'काला पहाड़' और मेवात
की
सामासिक संस्कृति की चुनौतियाँ

(एम. फिल उपाधि हेतु लघु शोध-प्रबंध)

शोध-निर्देशक
प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधार्थी
योगेश कुमार यादव

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
2005

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated : 19-07-2005

DECLARATION

I declare that the work done in this Thesis entitled "**KALA PAHAR AUR MEWAT KI SAMASIK SANSKRITI KI CHUNOTIYAN**" by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

YOGESH KUMAR YADAV
RESEARCH SCHOLAR

PROF. PURUSHOTTAM AGRAWAL
SUPERVISOR
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
CHAIRPERSON
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM :JAYENU TEL.: (91-001) 6107676, 6167557TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

स्वर्गीय बाबा को....

विषयानुक्रमणिका

भूमिका (i-ii)

प्रथम अध्याय 1-23

सामासिक संस्कृति की अवधारणा

द्वितीय अध्याय 24-48

सामासिक संस्कृति और मेवात क्षेत्र की परंपराएं

: विवाह

: मेले व उर्स

: लोक वार्ताएं

: मेवाती कहावतें

: मेवाती दोहा परंपरा

: मेवाती लोक गीत

तृतीय अध्याय 49-72

'काला पहाड़' में व्यक्त मेवाती संस्कृति का संघर्ष

चतुर्थ अध्याय 73-90

मेवात में सामासिक संस्कृति का भविष्य

उपसंहार 91-95

संदर्भ-ग्रन्थ सूची 96-98

भूमिका

'*काला पहाड़*' मेवात को आधार बनाकर लिखा गया हिंदी का पहला उपन्यास है। मेवात अपनी विशिष्ट संस्कृति के कारण महत्वपूर्ण है। यहाँ के जीवन और संस्कृति में अद्‌भुत सामासिकता है। 'मेव' मध्यकाल में धर्मांतरित होकर हिन्दू से मुस्लिम बनने वाला अन्तिम समुदाय है। इस्लाम धर्म अपनाने के बाद भी मेवों के अनेक संस्कार गैर-इस्लामिक बने रहे। मेवों का जीवन और संस्कृति दोनों सामासिक हैं। मेवात की लोक संस्कृति अद्‌भुत साम्य लिए हुए है। ऐसी अद्‌भुत संस्कृति के प्रति किसी की भी जिज्ञासा हो सकती है। मेवात से बिल्कुल सटे हुए क्षेत्र (बहरोड़) का निवासी होने के बाद भी मैं मेवात को पूर्णतया '*काला पहाड़*' के माध्यम से ही जान पाया, यह '*काला पहाड़*' की महानता है व मेरी अल्पज्ञता।

'*काला पहाड़*' के माध्यम से जब मैंने मेवाती जन-जीवन को जाना तो मेरी जिज्ञासा बढ़ती ही गयी। '*काला पहाड़*' की भाषा ने भी मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया। इस अनछुए लोक के ऐसे बहुत से पहलू हैं जिस पर हिंदी में पहली बार लिखा गया है। मेवाती संस्कृति अपने आप में विशिष्ट है। यहाँ ऐसी सघनता वाली दुनिया मौजूद है जो अन्यत्र दिखाई नहीं देती। मुझे मेवाती परंपराओं ने बहुत आकर्षित किया। मेवात का यह रसमय चित्रण देख 'मैला आंचल' के 'मेरीगंज' की याद ताजा हो गई।

जीवन में बदलाव स्वाभाविक है, इस बदलाव के साथ अच्छी बुरी बातें भी जुड़ी हुई हैं। मेरा उद्देश्य इस बदलाव के चलते उत्पन्न खतरों को रेखांकित करना भी रहा। एक अन्य घटना जिसने मुझे इस उपन्यास पर शोध करने के लिए मजबूर कर दिया वह है—'अयोध्याकांड'। यह गौर करने की बात है कि कहां अयोध्या कहां मेवात, लेकिन 6 दिसम्बर 1992 के बाबरी मस्जिद विध्वंश का प्रभाव सदियों से एक जुज़ में बंधे मेवाती समाज को भी एक बारगी हिला कर रख देता है। इस तरह की घटनाओं का अपना स्थानीय और तात्कालिक प्रभाव ही नहीं होता बल्कि देशव्यापी और दूरगामी परिणाम भी दिखाई पड़ते हैं।

इस कार्य के लिए जब मैंने शोध सामग्री इकट्ठी करना शुरू की तब 'फील्ड वर्क' की जरूरत महसूस हुई। इस क्रम में मैं अलवर, गुड़गांव व कोटपूतली गया जहां मुझे मेवाती लोक साहित्य पर काफी सामग्री मिली। कोटपूतली के 'लोक भाषा प्रकाशन' व डॉ. एम. पी. शर्मा के सुझावों व सहयोग को मैं कैसे भूल सकता हूँ। मेवात पर हुए महत्वपूर्ण कार्यों के बारे में गुरुवर प्रो. *पुरुषोत्तम अग्रवाल* ने भी मुझे अवगत कराया।

मेरा यह सौभाग्य रहा कि मुझे जे. एन. यू. में प्रो. *पुरुषोत्तम अग्रवाल* के साथ काम करने का अवसर मिला। मैं जानता हूँ वर्तमान दौर की पीढ़ी के लिए मेरे गुरु एक 'मिथ' की तरह हैं। इस कारण यथार्थ रूप में योग्यतम गुरु को पाना शोधार्थी की एक बड़ी उपलब्धि होती है। निजी तौर पर भी और एक शोधार्थी होने के नाते भी प्रो. अग्रवाल के विचारों से मैं आद्यन्त प्रभावित रहा हूँ। शोध कार्य के दौरान गुरु माता श्रीमती सुमन केसरी का जो स्नेह मिला वह भी मेरे लिए एक उपलब्धि ही है। इस शोध की अच्छाइयाँ गुरुजी की हैं और जो नहीं बन सका है--वह मेरा है।

जे. एन. यू. पुस्तकालय, साहित्य अकादमी पुस्तकालय, मारवाड़ी पुस्तकालय (चाँदनी चौक) के स्टाफ ने जो सहयोग प्रदान किया, वह शोध को समृद्ध बनाने में काफी महत्वपूर्ण रहा।

विश्वविद्यालय परिसर में मेरी जरूरतों को पूरा करने के लिए ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष, अभिषेक रौशन, फरमान अली, प्रशांत 'सर', आशाराम भार्गव (आशू), निशांत यादव, रविकान्त, पशुपति शर्मा व नरेन्द्र ने मेरी हर संभव मदद की उनके योगदान को मैं सिर्फ महसूस कर सकता हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय के बीरपाल भैया व अमित कुमार के बारे में लिखना औपचारिकता होगी। विश्वविद्यालय परिसर से अलग हो गए सुभाष मुस्तफ़ा व रमेन्द्र सिंह की स्मृतियाँ मेरे साथ हैं।

'*काला पहाड़*' के लेखक मोरवाल जी ने मेरी हर संभव मदद की, शोध के अनुभव क्षेत्र को विस्तृत करने में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा।

परिवार के सहयोग और शुभ कामना के बिना यह शोध कार्य संभव नहीं था। स्वर्गीय दादा जी की स्मृतियाँ आशीर्वाद बन हमेशा मेरे साथ रहीं। माताजी-पिताजी के स्नेह और आशीर्वाद का संबल हमेशा मेरे साथ रहता है। बड़े भैया अशोक यादव, आर. आर. यादव व छोटी बहन इन्दू यादव का प्यार मुझे हमेशा मिला।

मैं अपनी सहधर्मिणी डॉ. मंजू यादव का आभारी हूँ जिनके तकादों ने मुझ जैसे आलसी इन्सान से भी इस कार्य को जल्द पूरा करवा लिया।

जया जी ने मेरे निवेदन को स्वीकार कर इस लघु-शोध को जल्द टाईप किया, उनका बहुत-बहुत धन्यवाद।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
14 जुलाई, 2005

योगेश कुमार यादव
208E, ब्रह्मपुत्रा हॉस्टल
जे. एन. यू.-110007

प्रथम अध्याय

सामासिक संस्कृति की अवधारणा

सामासिक संस्कृति की अवधारणा

"भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे।"[1]

—पण्डित जवाहरलाल नेहरू

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता आया है। सामान्य शिक्षित समाज में संस्कृति शब्द के प्रयोग से साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का सामूहिक रूप से बोध होता है। इस कला-समूह में मनुष्य की वे गतिविधियाँ और क्रिया-कलाप भी शामिल होते हैं जिनकी सार्थकता उनकी उपयोगिता में ही नहीं, बल्कि इस बात में भी है कि वे सौंदर्य के जीवंत रूप और आनंद के स्रोत भी हैं।

नृविज्ञान में संस्कृति शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। प्रसिद्ध नृविज्ञानवेत्ता मैलिनौस्की के अनुसार, "मानव-जाति की समस्त 'सामाजिक विरासत' या मानव की समस्त संचित सृष्टि का नाम ही संस्कृति है।"2

इस अर्थ में मनुष्य निर्मित वह समस्त भौतिक वातावरण जिसमें श्रम और उद्यम, कल्पना और कौशल, ज्ञान और विज्ञान सभी कुछ शामिल हैं, संस्कृति कहलाता है। नृविज्ञान इसी मानव निर्मित कृत्रिम जगत को 'संस्कृति' नाम से परिभाषित करता है। इसी प्रकार "संस्कृति में मूल्य, मान्यता, चेतना, विश्वास, विचार, विज्ञान, भावना-रिवाज, भाषा, धर्म, कर्म, जादू-टोना आदि के सभी अमूर्त्त स्वरूप भी शामिल हैं, जिनसे मानव-सृजित कृत्रिम जगत् सार्थकता और महत्ता पाता है।"[3] इसी प्रकार संस्कृति में विज्ञान और तकनीकि तथा श्रम तथा उद्यम आदि के संयोग से निर्मित किये गये भोजन, पोशाक, आवास और भौतिक जीवन को सुखमय बनाने वाले अनेक रूप भी शामिल हैं, जो मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों होते हैं।

नृविज्ञान में संस्कृति के अमूर्त्त स्वरूप को आध्यात्मिक संस्कृति और मूर्त्त स्वरूप को भौतिक संस्कृति कहते हैं। इन दोनों के संयुक्त विकास से ही मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी बनता है।

आबिद हुसैन ने संस्कृति को इस प्रकार से परिभाषित किया है—''संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है, जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ-साथ, उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट स्वरूप दिए जाने में अभिव्यक्त होती है।''[4]

बहुदा लोग सभ्यता और संस्कृति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। लेकिन सभ्यता और संस्कृति में अन्तर होता है। ''सभ्यता, मनुष्यों के सांस्कृतिक विकास की वह स्थिति है, जिसमें नगर कहे जाने वाले जनसंख्या के क्षेत्रों में, वे रहना प्रारंभ कर देते हैं, तथा उच्च श्रेणी के भौतिक जीवन या उच्च जीवन स्तर के प्रतीक बन जाते हैं। किन्तु उच्च स्तर के भौतिक जीवन में सस्कृति का अंश तभी आता है, जबकि वह उसमें संश्लिष्ट हो या उच्च नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने का कोई माध्यम बने।''[5] जब इस तरह का जीवन किन्हीं नैतिक मूल्यों के प्रतिकूल जान पड़े तब वह सांस्कृतिक विकास में बाधक होता है। इस प्रकार सभ्यता हमेशा संस्कृति के अनुकूल न होकर प्रतिकूल या शत्रु भी बन जाती है। खोजने पर इतिहास में इस तरह के अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं, जब पुरानी पड़ी सभ्यता को उखाड़ा फेंका गया और इसके चलते संस्कृति के नये रूप का उदय हुआ।

संस्कृति का धर्म से किस तरह का संबंध होता है, हमें इस प्रश्न पर भी विचार करना चाहिए। असल में संस्कृति का संबंध भाषा, साहित्य और समाज से होता है लेकिन कुछ लोगों ने संस्कृति का संबंध धर्म के संकुचित अर्थ से जोड़ दिया और यहीं से घालमेल शुरू होता है। *आबिद हुसैन* ने लिखा है कि, 'धर्म, अपने विस्तृत अर्थ में संस्कृति के समान है और उसके बाहर भी है तथा संकुचित अर्थ में उसका एक अंग बन जाता है। धर्म उच्चतम सत्य की आंतरिक उपलब्धि के रूप में, कभी संस्कृति का विरोधी नहीं बन सकता, किंतु जब वास्तविक धर्म का ह्रास होता है और वह सारहीन बन जाता है तब अक्सर संस्कृति से उसका टकराव होता है।'[6] धर्मांध राजनीति ने इस टकराहट को न केवल बढ़ावा दिया है बल्कि इसका भरपूर प्रयोग भी अपने हित में किया है।

संस्कृति के स्वरूप को लेकर हमारे यहां दो तरह की विचार प्रणालियाँ या धाराएँ

प्रचलित हैं। एक धारा के लोगों का मानना है कि संस्कृति का स्वरूप सामासिक होता है तो दूसरी धारा के लोग इस बात का खण्डन करते हैं और संस्कृति के मामले में शुद्धतावादी धारणा का समर्थन करते हैं। जैसे शुद्ध हिन्दू संस्कृति, शुद्ध मुस्लिम संस्कृति, शुद्ध दलित संस्कृति आदि। दूसरी धारा के लोगों में हमारे यहां इस तरह के विचार निर्मल वर्मा और गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के हैं।

कुछ लोग भारत को सिर्फ एक धर्म विशेष से जोड़कर देखते हैं। उनका तर्क यह होता है कि 'हिन्दू' ही यहां की मूल प्रजाति है अतः यह देश सिर्फ उन्हीं का है। दूसरे धर्म व सम्प्रदायों के महत्व को वे नजर अंदाज करते हैं। एक धर्म विशेष पर बल देकर ये लोग भारत की गौरवशाली परम्परा में मिलने वाले साझे तत्वों को नकार देते हैं। यह इकहरी व्याख्या है जबकि सच्चाई यह है कि भारत कभी हिन्दू राष्ट्र रहा ही नहीं। यहां बहुत से पंथ, सम्प्रदाय विकसित हुए, बाहर से आये और इन सब ने मिलकर भारत वर्ष का निर्माण किया। अतः हम इस संस्कृति को सिर्फ हिंदू अस्मिता तक सीमित नहीं कर सकते। प्रो. *पुरुषोत्तम अग्रवाल* ने लिखा है कि, 'भारतीयता' का यह निनाद सामाजिक अन्याय के पक्षधरों को ठीक इस कारण बहुत सुहाता है, क्योंकि इसका लक्ष्य ही है, अन्याय की ऐतिहासिक और समकालीन सच्चाइयों को दबा देना। इसके अंतर्गत भारतीय अस्मिता को, एक तो हिंदू एक सीमित कर दिया जाता है, दूसरे 'अस्मिता' की ऐसी इकहरी धारणा प्रस्तुत की जाती है, जिसमें हमारे समाज में, मौजूद विभिन्न पहचानों के संघर्ष, उनकी समस्याएँ, आकांक्षाएं और अनुभव सब गायब हो जाता है।"[7]

भारत बहुभाषी, बहुधर्मी देश है, यहां जो विविधता है वह अपने आप में अद्‌भुत है। सामासिक संस्कृति इस विविधता को मिटाने की बात नहीं करती बल्कि सभी के साथ उपस्थित रहते हुए उसमें सामंजस्य की बात करती है, यह सामंजस्य जाति, धर्म, भाषा व क्षेत्र सभी स्तरों पर हो सकता है। इसी के चलते संस्कृति के किसी भी अवयव के विभिन्न उप अवयवों की स्वायत्तता के साथ बगैर छेड़छाड़ किए एक संतुलित या मिश्रित संस्कृति का निर्माण हो पाता है। बीसवीं शताब्दी के मध्य में जब तीसरी दुनिया के देश (एशिया, अफ्रिका और लैटिन अमेरिकी देश) आजाद हो रहे थे तब कुछ पश्चिमी चिंतकों ने यह आशंका व्यक्त की थी कि, भारत क्या एक राष्ट्र के रूप में एकजुट रह पायेगा? उन्हें लगता था कि इतनी विविधताओं वाले देश का एकजुट रह पाना मुश्किल है। लेकिन उनकी धारणा

निर्मूल साबित हुई। भारत में न केवल लोकतंत्र तेजी से मजबूत हुआ बल्कि संस्कृति के विभिन्न अवयवों में एकता, समझ व सामंजस्य मजबूत होकर उभरा है। आजादी के बाद कुछ घटनाओं को छोड़कर जैसे - 1976 का आपातकाल, 1984 के सिख विरोधी दंगे, 1992 में बावरी मस्जिद को तोड़ा जाना व बाद में गुजरात के हिन्दु-मुस्लिम दंगे, ऐसी कोई बड़ी घटना नहीं हुई जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यहां लोकतंत्र भविष्य में असफल होने जा रहा है।

केवल हिंदू-मुस्लिम की एकता हो जाने मात्र को सामासिक संस्कृति की निर्मिति नहीं कह सकते, यह इसका बहुत ही संकीर्ण अर्थ होगा। सामासिक संस्कृति एक ऐसे संतुलन की मांग करती है जिसमें गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, काला-गोरा, दलित-सवर्ण, मजदूर-पूंजीपति, किसान-जमीदार, गांव-शहर आदि परस्पर विरोधी हितों वाले समूहों में एक न्याय संगत सामंजस्य हो सके। सभी के साथ न्याय हो जिस तरह गांधी जी कहते हैं कि राम राज्य में कुत्ते के साथ भी न्याय होगा।

सामासिक संस्कृति आपसी मेल-मिलाप व सद्भाव की संस्कृति है, जहां सभी में एक साझापन का भाव हो। सभी की निष्ठा का कोई न कोई एक केन्द्र हो सके—वह देश का संविधान ही हो तो कहना ही क्या है। सामासिकता एक मिश्रित संस्कृति की मांग करती है, जहां शुद्धता की धारणा का मूल्य नहीं। संस्कृति अपने आप में होती भी अशुद्ध है क्योंकि सदियों से नाना जातियों व भावों के आगमन से कुछ शुद्ध बचा नहीं रह गया है। अतः शुद्धता की खोज करना व्यर्थ का कार्य है।

सभी के दरवाजे सभी के लिए खुले हों, जाति और धर्म व्यक्तिगत मसला हो, सार्वजनिक नहीं। सभी में रोटी-बेटी का संबंध हो सके तो कहना ही क्या है, पर भारत जैसे विभिन्नताओं वाले समाज में अभी ऐसा हो पाना बहुत मुश्किल है। अभी तो हिंदू धर्म के अंदर ही जाति को लेकर इतने विभेद हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। यहां एक आदमी दूसरे का छूआ खाना तक खाने को राजी नहीं है। मंदिर तक में सभी लोगों का आना-जाना संभव नहीं है। मराठी के दलित कवि *शरण कुमार लिंबाले* की एक कविता है जो इस पीड़ा को गंभीरता से व्यक्त करती है—

"मस्जिद में अजान की आवाज आयी
सब मुसलमान मस्जिद में चले गये।

गिरजे की घंटियाँ बजीं
सब ईसाई गिरजे में चले गये।
मंदिर से घंटे की आवाज आयी।
आधे लोग मंदिर में चले गये,
आधे बाहर ही रहे।"[8]

इन आधे बाहर वाले लोगों की पीड़ा जब तक हल नहीं हो जाती तब तक सामासिकता का प्रश्न अधूरा ही है।

धर्म और जाति विषयक मुद्दों के अलावा आर्थिक तत्व आज सामासिक संस्कृति में एक बड़ी रूकावट है। इससे एक दूसरी ही संस्कृति का निर्माण हो रहा है जिसे अपसंस्कृति भी कह सकते हैं, जो पश्चिम प्रस्थ है और भोगवाद में विश्वास रखती हैं। दिल्ली स्थित पी वी आर सिनेमाघरों के आसपास इसे देखा जा सकता है। यहां सब कुछ पैसे से निर्धारित होता है। राज्य की भूमिका आर्थिक असमानता को कम करने में अहम हो सकती है। वह गरीबी और अमीरी के अन्तर को कम कर सकता है।

अब हम सिलसिलेवार ढंग से देखेंगे कि किस तरह से यहां विभिन्न जातियों का आगमन हुआ और उसके बाद किस प्रकार की संस्कृति का निर्माण हुआ।

आर्यों के आगमन से पूर्व भी इस देश में बहुत-सी जातियाँ बसी हुई थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, "आर्य इस देश में उसी प्रकार नवागन्तुक थे, जिस प्रकार शक, हूण आदि अन्याय विदेशी जातियाँ समय-समय पर आयीं और अपने सारे आचार-विचार और विश्वासों के साथ यहीं की हो रहीं। भारतीय संस्कृति डेल्टा पर जमें हुए अनेक बालुका स्तरों की भाँति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है।"[9] इन्हीं नाना संस्कृतियों का मिश्रण इसे भारतीय संस्कृति बनाता है। इस अर्थ में यह मिश्रित संस्कृति है, जिसमें शुद्धता की परख, पहचान व खोज करना व्यर्थ होगा। क्योंकि यहां बहुत सारी संस्कृतियां इस प्रकार घुलमिल गई हैं कि अब उन्हें अलगाना मुश्किल कार्य है।

भारत सदैव से दुनिया के आकर्षण का केन्द्र रहा है। ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और वैक्ट्रयन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आने वाले तुर्क और ईसा की आरंभिक सदियों में आने वाले ईसाई यहूदी और पारसी, ये सब के सब एक के बाद एक, भारत में आए और उनके आगमन से समाज ने एक हल्के कंपन का अनुभव किया।

लेकिन अंत में आकर वे सब के सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गए। उनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा।

हम देखते हैं असुरों, नागों, यक्षों, आग्नेय आदि आर्येतर जातियों का प्रभाव भाषा, विश्वासों, रहन-सहन के साथ इस प्रकार पड़ा कि हिन्दू समाज में ऐसे सैकड़ों व्रत, आचार, अनुष्ठान और रिवाज चल पड़े, जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता है। मंगोल, यूनानी, शक, आभीर आदि जातियों के यहां दंत कथाओं के रूप में जो कहानियां प्रचलित थीं, वे आर्यों के साहित्य में घुस पड़ी। यही नहीं हम यह भी पाते हैं कि 'शिव की कल्पना, अधिकांशः आर्येतर कल्पना है और मुख्यतः यह द्राविड़ संस्कार से आयी है।''[10]

गणेशजी आर्येतर देवता माने गए हैं। इनकी पूजा आर्य लोगों में बाद में चलकर प्रचलित हुई। आचार्य क्षितिमोहन सेन अपनी पुस्तक 'संस्कृति संगम' में गणेश के पूजा-पद्धति के प्रचलन की रोचक उद्भावना प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि, 'अनेक अनार्य देवताओं को आर्य लोग स्वीकार नहीं कर सके। आसपास के चतुर्दिक प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असंभव था। प्राचीन आर्यगण भी समझ सके थे कि गणचित्त को प्रसन्न किए बिना (इस देश में) वास करना कठिन है। इसलिए सब यज्ञों में पहले गणपति की पूजा की व्यवस्था की गई।'[11]

हमारी संस्कृति में विशालता, प्रवाहमयता, सम्मिश्रण की क्षमता आदि के अनेक गुण बेजोड़ हैं। इन्हीं विशेषताओं को रेखांकित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि, 'मेरे सामने छह हजार वर्षों की और सहस्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में जरा भी बुढ़ापा नहीं है।'[12]

ऐसी अद्भुत संस्कृति के प्रति मानव का असीम लगाव भी रहा है, इसलिए बड़ी मुस्तैदी से सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के प्रयत्न निरन्तर होते रहे हैं। अपनी सांस्कृतिक विरासत के महत्व एवं उसके प्रति प्रेम को *जवाहर लाल नेहरू* के माध्यम से समझा जा सकता है, ''मैं अक्सर यह सोचकर हैरान रह जाता हूँ कि हमारी जाति कहीं बुद्ध, महाभारत, रामायण, गीता और उपनिषदों को भूल जाए तो उसका क्या हशर* होगा? हमारी जड़ें उखड़ जाएंगी, तब भारत-भारत न रह सकेगा।''[13]

मुसलमान भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग थे। पिछले सात-आठ सौ वर्षों के साहित्य,

---

* SEEK

कला, स्थापत्य आदि की चर्चा उनके बिना पूरी नहीं हो सकती। भारतीय संस्कृति के निर्माण में उनकी अहम भूमिका थी। इसलिए उनकी भारतीयता पर चर्चा करना ही बेमानी है। हिन्दू पुनरुत्थानवाद ने लगातार मुसलमानों को अलग दिखाने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप इस प्रकार के प्रयास भारतीय इस्लाम में भी दिखायी देते हैं। भारतीय इस्लाम के भीतर भी सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति दिखायी देती हैं।

हिंदू-मुसलमान का संघर्ष उन्नीसवीं सदी के अन्त में अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता का स्वरूप ग्रहण करने लगा। उर्दू और देवनागरी विवाद तथा गोरक्षा इसके प्रमुख मुद्दे थे। उर्दू और देवनागरी विवाद के दूरगामी परिणाम अत्यन्त घातक सिद्ध हुए। हिंदी लगातार संस्कृत की ओर प्रकारान्तर से हिंदू की ओर उन्मुख हुई, जबकि उर्दू इसके ठीक विपरीत फारसी-अरबी होते हुए मुसलमानों तक सिमट गई। लिपि के भेद ने हिंदी उर्दू को धर्म विशेष की पहचान बना दी। प्रो. *पुरुषोत्तम अग्रवाल* इस समस्या का सांस्कृतिक विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि–"वास्तविकता यह है कि हिंदी और उर्दू दोनों ही के आधुनिक रूपों के विकास को हिन्दू-मुसलमान आत्मबोध ने गहरे में प्रभावित बल्कि 'कंडीशन' किया है। यह कंडीशनिंग इन भाषाओं में व्यक्त होने वाली हिंदी प्रदेश की बौद्धिक प्रतिभा को दो फाड़ तो करती ही है, साथ ही इस प्रतिभा के सांस्कृतिक वैचारिक सरोकारों पर भी गहरा असर डालती है।"[14]

भारत के सबसे बड़े दो समुदायों हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच संघर्ष को देश के विभाजन का कारण माना जाता है। किंतु हम तमाम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सोचें तो समकालीन इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि विभाजन का कारण धार्मिक भावना नहीं थी। विभाजन के कारण बाहरी तत्वों, जो धर्म के साथ संबद्ध हो गये थे, जिन्होंने धर्म का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए किया, ने विभाजन के आंदोलन को प्रारम्भ किया। यदि धर्म ही विभाजन का मूल कारण होता तो पाकिस्तान में तो एक ही धर्मावलंबी समाज के लोग हैं, यहां बंग्लादेश के रूप में क्यों विभाजन का मुंह देखना पड़ा।

'जहां तक विशुद्ध धर्म का संबंध है हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की अंतः अनुभूतियों में आधारभूत समानता है।'[15] किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं कि धार्मिक सिद्धांत, कर्मकांड, धार्मिक नियम आदि में दोनों धर्मों के बीच बहुत अन्तर है। गत हजार वर्षों से विभिन्न धार्मिक असमानताओं के होते हुए भी भारत भूमि पर दोनों धर्मों को एक-दूसरे के

निकट लाया गया। इस निकटकता के कार्य को अंजाम दिया संतों और सूफियों ने।

'सन्तों और सूफियों ने केवल सहनशीलता का ही वातावरण पैदा नहीं किया, बल्कि पारस्परिक सद्भावना भी उत्पन्न की, जिससे कि जब हिन्दू और मुसलमान नरेश सत्ता के लिए संघर्ष कर रहे थे तब दोनों धर्मों के आम लोग एक साथ मिल जुलकर रहने की स्थिति में थे।'[16]

भारतीयता को 'हिंदू' मानने का अर्थ है समाज के अन्य धर्म, सम्प्रदायों व विचारों की अनदेखी। इस अनदेखी की स्वाभाविक परिणति है कबीर और जायसी जैसे भक्ति कवियों की संवेदना का नकार। कबीर और जायसी की मूल संवेदना सामाजिक ही है। कबीर अपने जन्म व कर्म दोनों में सामासिक हैं तो जायसी की मूल संवेदना में सामासिक संस्कृति गहरे तक समायित है।

सामासिक संस्कृति को हमें सिर्फ विभिन्न धर्मों के आपसी विभेद या एकता के सन्दर्भ में ही नहीं देखना चाहिए, बल्कि एक धर्म विशेष के अन्दर मौजूद अनेक भेद-उपभेदों के संदर्भ में भी देखना चाहिए। जैसे हम हिंदू धर्म की ही बात करें तो उसके अन्दर भी अनेक ऐसी जाति व धर्मगत व्याधियां हैं जो समाज को 'कम्पोजिट' होने से रोकती हैं। आज भी दलित को समाज में पीट-पीट कर इसलिए मार दिया जाता है कि उसने किसी मृत गाय की खाल उतारने की हिम्मत की। इससे भी ऊपर विश्व हिन्दू परिषद् का बयान आता है कि गाय की जान की कीमत दलित की जान से बढ़कर है।

भारत में अल्पसंख्यकों के कुछ वर्ग जो धार्मिक, जातिगत या सांस्कृतिक क्षेत्र में, बहुसंख्यकों के द्वारा किए जाने वाले व्यवहार से संतुष्ट नहीं है। समय-समय पर ये लोग निरन्तर किए जाने वाले द्वेषपूर्ण भेदभाव की शिकायत करते हैं। इसमें मुस्लिम, ईसाई या नार्थ-ईस्ट की जनजातियां हो सकती हैं जो अपने आपको सैनिक शासन से परेशान पाती हैं। यह भेदभाव सामान्यतः राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तीनों क्षेत्रों में होता है। इसमें भी सांस्कृतिक स्तर पर गैर बराबरी का दर्जा ज्यादा खतरनाक नजर आता है। बहुत से लोग इस बात में निष्ठापूर्वक विश्वास करते हैं कि पूरे देश को एकता के सूत्र में बांधने के लिए एक संस्कृति एक भाषा हो और वह बहुसंख्यकों की भाषा और संस्कृति ही हो। इस तरह की एकता निश्चित तौर पर अल्पसंख्यकों की भाषा और संस्कृति की अधीनस्थता की शर्त पर ही पूरी की जा सकती है। हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि इस तरह

की विचार प्रणाली प्रजातांत्रिक, न्यायिक सिद्धांतों के खिलाफ तो है ही भारत की सहिष्णुता की सभी परंपराओं के विरुद्ध भी है।

इस बात को लेकर कोई विवाद नहीं है कि सम्पूर्ण भारत के लिए एक सम्पर्क भाषा और अलग-अलग क्षेत्रों की क्षेत्रीय भाषाओं का विकास किया जाये। क्योंकि विस्तृत क्षेत्र बिना एक सामासिक संस्कृति के एक कमजोर और अस्थायी राष्ट्र की बना रहेगा। इसके लिए किए जाने वाले प्रयत्न लगातार जनता को विश्वास में लेकर और उद्देश्यपूर्ण प्रेरणा से चलाये जायें, दबाव व दमन से नहीं।

भारत में विभिन्न स्थानों से अनेक जातियों व धर्मों का आगमन होता रहा है, साथ ही भारत से बाहर भी अनेक देशों में भारतवासी जाते रहे हैं। जैसे बौद्ध धर्म का जन्म भारत में हुआ लेकिन आज यहां बौद्ध धर्मावलंबी न के बराबर हैं। जबकि भारत के बाहर बौद्ध धर्म अनेक देशों में फल-फूल रहा है। भारत विभिन्न मत-मतान्तरों, पंथ या सम्प्रदायों व धर्मों की जन्म स्थली होने के कारण इनके कुछ तत्वों का आपस में इस तरह घालमेल हो गया है कि उन्हें अलगाना न केवल मुश्किल है बल्कि अनावश्यक भी है।

इसी प्रकार भारत से बाहर जाने वाले भारतीयों ने विभिन्न धर्म स्वीकारने के बाद भी अपनी संस्कृति नहीं बदली। यहां अद्‌भुत समन्वय पाया जाता है। 'इण्डोनेशिया की स्थिति इसी तरह की है। इस देश ने इस्लाम तो कुबूल किया, पर अपनी संस्कृति नहीं छोड़ी। उस समय में सत्यवती सुलेमान और सरस्वती अबुल्ला जैसे नाम अजीब नहीं लगते। वहाँ के नृत्य-नाट्य, कठपुलियों और चर्म-पुतलों के नृत्य, और छाया-नाट्य में 'महाभारत' और 'रामकथा' की सशक्त उपस्थिति है। बाली के निवासी अपने आपको हिंदू मानते हैं और उन्हें 'बाली हिंदू' कहा जाता है। इंडोनेशिया का इस्लाम हिंदुओं को भी एक ईश्वर का पूजक मानता है। उनकी 'भातारा त्रिपुरुषा' की अवधारणा में 'ब्रह्मा-विष्णु और शिव मिलकर एक ईश्वर हो जाते हैं। इस तरह हिंदू धर्म भी इस्लाम, ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म के समकक्ष हो जाता है।''[18]

कुछ लोग हिन्दुस्तान को केवल हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहते हैं, उन्हें विभिन्न परंपराओं व संस्कृतियों का यहां होना अच्छा नहीं लगता। विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल और शिव सेना इसी विचारधारा को मजबूती प्रदान करती हैं। उपरोक्त संगठन गैर हिन्दुओं के आचार-विचार, उनके मूल्य-मान्यताएँ और प्रतीकों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

श्यामाचरण दुबे ने लिखा है कि–''परंपरा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसे दबाया भी नहीं जा सकता। सांस्कृतिक विविधता स्वाभाविक है, किसी रोग का लक्षण नहीं। वह यदि बढ़ती है तो बढ़े अंकुश लगाना है तो सांस्कृतिक अहंकार और असहिष्णुता पर।''[19] इसी प्रकार परंपरा से हमारा किस प्रकार का नाता हो इसे स्पष्ट करते हुए प्रो. *पुरुषोत्तम अग्रवाल* ने लिखा है–''परंपरा से रिश्ता विवेकपूर्ण जुड़ाव का हो, राजनीतिक उपयोगितावाद या कोरे भावुक प्रेम का नहीं।''[20]

आजकल का दौर भावनाओं के आहत होने का दौर है। इस समय कुछ भी अनुमान लगाना मुश्किल है कि किस बात को लेकर समाज के किस 'कोमल अंग' की भावनाएं आहत हो जायें। ये भावनाएं अलग-अलग अस्मिताओं का रूप धरकर हमारे आस-पास मौजूद हैं। इस तरह की चरमपंथी अस्मिताएं जो सिर्फ अपनी अस्मिता को दूसरे की अस्मिता के बरक्स महान् साबित करती हैं, कुकुरमुत्ते की तरह उग आयी हैं। ये अस्मिताएं हिंदू अस्मिता, मुस्लिम अस्मिता, दलित अस्मिता या प्रान्तीय, भाषायी, जातीय या अन्य किसी भी रूप में हो सकती हैं। जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो हमें उसमें शामिल विभिन्न अस्मिताओं को महत्व देना होगा। लेकिन किसी एक अस्मिता को ही असली अस्मिता मानना निहायत गलत कदम होगा।

यह विचारणीय प्रश्न है कि समसामासिक परिप्रेक्ष्य में अस्मिताओं की राजनीतिक तेजी से क्यों उभरी है? अस्मिताओं की राजनीति जिस दिशा में जा रही है वह भी भविष्य के लिए शुभ संकेत नहीं है। अस्मिताओं का जो विद्रुप और भयावह चेहरा उभरा है वह सामासिक संस्कृति के निर्माण में तो बाधक है ही भारत के एक राष्ट्र राज्य के रूप में विकसित होने में भी बाधा है।

अस्मिताओं को जहां एक तरफ गलत ढंग से उभारा जा रहा है तो दूसरी तरफ इनकी तरह-तरह की अतिवादी व्याख्याएं भी हो रही हैं। संकट की इस घड़ी में, जहां लोग 'अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग' अलाप रहे हैं, वहां सामासिक संस्कृति की बात करना 'विशुद्ध' लोगों के लिए अखरने वाला कार्य अवश्य है।

कुछ विद्वान आरक्षण की व्यवस्था को सामासिक संस्कृति के लिए खतरा बताते हैं। उनका तर्क है कि इस व्यवस्था के चलते समाज में विभिन्न 'वर्ग' बन जाते हैं। जो धीरे-धीरे अपना एक अलग ही चरित्र ग्रहण कर लेते हैं। इन वर्गों के हित कुछ दूसरे वर्गों के हितों

से बराबर टकराते हैं, जिससे समाज में संघर्ष शुरू हो जाता है।

इसी प्रकार दूसरी तरफ अल्पसंख्यकों को लेकर भी यह बात की जाती है कि उन्हें किसी प्रकार की अतिरिक्त रियायत या विशेष दर्जा देने की जरूरत नहीं है। कहा यह जाता है कि धर्म तो व्यक्तिगत आस्था का विषय है। व्यक्ति को पूरी आजादी है कि वह चाहे जिस धर्म को अपनाये, उसका प्रचार-प्रसार करे। इसमें क्या अल्पसंख्यक क्या बहुसंख्यक। प्रो. *पुरुषोत्तम अग्रवाल* लिखते हैं कि, "वास्तविकता यह है कि धर्म तर्केतर आस्था के रूप में व्यक्तिगत मसला हो सकता है, लेकिन बतौर एक विश्वदृष्टि के, बतौर एक जीवन पद्धति के, वह कतई व्यक्तिगत मसला नहीं है। इसीलिए लोकतांत्रिक राजनीति यह जायज मांग करती है कि अल्पसंख्यकों को, बतौर व्यक्ति के नहीं, बतौर समुदायों के भी कुछ न्यूनतम आश्वासन हासिल होने चाहिए।"[21]

वास्तव में चाहे वह समाज में हाशिए के लोगों को आरक्षण का लाभ देने की बात हो या अल्पसंख्यकों को विशेष दर्जा देने की बात, लोकतांत्रिक व्यवस्था का एक अहम् हिस्सा होना चाहिए। लोकतंत्र में अनेक समूह होते हैं और इन समूहों में आपसी सामंजस्य का होना बेहद जरूरी है। इस तरह की समझ जीवन में साझेपन के तर्क को समझने से ही पैदा हो सकती है।

यह इस देश की एक बड़ी त्रासदी ही कही जायेगी कि 'सेक्यूलर' और प्रगतिशील कहलाने वाले बुद्धिजीवियों ने और सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता का जाप करने वाले राजनीतिक दलों ने आज के संदर्भ में संस्कृति के महत्व को समझा ही नहीं। इसके विपरीत उग्र हिन्दू राष्ट्रवादी और सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी राजनीतिक विचारधारा के हिमायती दलों ने इस क्षेत्र में पूरा-पूरा लाभ उठाया है। उन्होंने पौराणिक विरासत के प्रतीकों, बिंबों, आख्यानों, मिथकों को भी हिन्दू पुनरुत्थानवाद के साँचे में ढालकर प्रस्तुत किया है। इस सांस्कृतिक अभियान में इनका साथ अभिजातीय हिंदू समाज, सवर्ण पुरुषवादी समुदाय ने विशेष रूप से दिया है। इस अभियान में ये अत्यंत सफल साबित हुए हैं।

आजादी के बाद उत्पन्न हुए नव-मध्यम वर्ग, विशेषकर युवावर्ग के दिमाग को प्रभावित करने और उग्र राष्ट्रवाद के पीछे लामबंद करने में संस्कृति एक सशक्त माध्यम साबित हुई है। संस्कृति की इस नई भूमिका को प्रभावशाली बनाने में इलैक्ट्रोनिक मीडिया और इसके

पौराणिक मिथकों पर आधारित कार्यक्रमों की भूमिका निर्णायक कही जा सकती है। आज भी देश में दर्जनों टी. वी. चैनलों पर जटाधारी बाबा लोग दिन-रात चौबीसों घण्टे प्रवचन देने में जुटे हैं। टी. वी. चैनलों पर प्रचारित किये जाने वाले दकियानूसी धार्मिक कार्यक्रमों का क्या औचित्य है? इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए। संस्कृति की संकीर्ण एवं एक तरफा तश्वीर ये चैनल पेश कर रहे हैं। पी. सी. जोशी ने ठीक लिखा है कि–"उग्र राष्ट्रवादी राजनीति को यदि विस्तार और गहराई प्रदान करने में पुनरुत्थानवादी विचारधारा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, तो पुनरुत्थानवादी मानसिकता के प्रसार में इलैक्ट्रॉनिक मीडिया और उसके सांस्कृतिक कार्यक्रमों की भूमिका भी अत्यंत उल्लेखनीय है।"[22] पुनरुत्थानवाद उग्र हिन्दू राष्ट्रवाद का एक प्रमुख वैचारिक सांस्कृतिक मंच है और इलैक्ट्रानिक मीडिया उसका सबसे कारगर माध्यम। देश में हिन्दू राष्ट्रवादियों का ये खेल यदि चलता रहा तो निश्चित रूप से ये लोग राष्ट्र की चेतना को खंडित, विभाजित और विघटित कर नव उपनिवेशवाद के संकट को और अधिक गंभीर बना देंगे।

उग्र हिन्दू राष्ट्रवादियों के इस कार्य को महज राजनीतिक प्रवृत्तियों के रूप में देखना संकट को कम करके आंकना होगा। उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक जागरण और आजादी के बाद के सांस्कृतिक एजेंडा की मूलभूत अवधारणाओं, मूल्यों और कार्यक्रम को चुनौती दी है और वैकल्पिक विश्वदृष्टि, अवधारणाओं, मूल्यों और कार्यक्रमों को पेश किया है। 'उग्र हिंदू राष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवाद की लहर इस दृष्टि से एक राजनीतिक विचार और कार्यक्रम के रूप में ही नहीं, एक सांस्कृतिक प्रतिक्रांति की लहर के रूप में तेजी से उभरी है। इसका प्रमाण है 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद पर प्रहार और उसको तोड़ने के कार्यक्रम में कामयाबी।'[23]

इस घटना को महज एक राजनीतिक घटना या राजनीतिक भटकाव समझना भारी भूल होगी। यह प्रक्रिया लंबे समय से चल रही थी जिसे अन्ततः कामयाबी मिली। हिन्दू राष्ट्रवादियों के सांस्कृतिक एजेंडा में यह घटना प्रमुख स्थान रखती थी।

इस कार्यक्रम में हिन्दू राष्ट्रवादियों को जो सफलता मिली है उसका कारण भी स्पष्ट है। हमारे प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने 'प्रगति' के फेर में पड़कर अपनी सांस्कृतिक धरोहर की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। ऐसे में हिंदू राष्ट्रवादियों ने सांस्कृतिक धरोहर को अपने मनमाने ढंग से तोड़ने-मरोड़ने, उसकी अपने ढंग से व्याख्या करने, उसको अपने राजनीतिक हित के

लिए इस्तेमाल करने का सुनहरा अवसर प्राप्त कर लिया।

आजादी के बाद एक दुर्भाग्य यह रहा है कि कला और सांस्कृतिक गतिविधियों पर राजनीति और नौकरशाही हावी रही है। संस्कृति सत्तारूढ़ राजनेताओं और नौकरशाही के प्रभाव क्षेत्र में आकर अपना स्वायत्त चरित्र निर्मित नहीं रख पायी। देखते-देखते राजनेता और नौकरशाह वर्ग से जुड़े संस्कृतिकर्मियों का एक ऐसा समुदाय पैदा हो गया जो अपनी श्रेष्ठता के बल पर नहीं बल्कि राजनीतिक सामीप्य के चलते पुरस्कार पाने लगे और अन्ततः राज-व्यवस्था के 'दास' बनकर रह गये। इसके परिणामस्वरूप 'संतन को कहा सीकरी सों काम' की समस्त मर्यादा और परम्परा ही विघटित हो गई।

नंद भारद्वाज ने अपने लेख *'संस्कृति नीति की प्राथमिकताएं'* में लिखा है कि "साहित्य, कला और संस्कृति से जुड़े ऐसे बहुत से प्रतिष्ठान आजादी के बाद से ही लगातार जनता के बीच काम करते रहे हैं। इन प्रतिष्ठानों में सूचना संस्थाओं, भाषा संस्थानों, कला मॉडलों, शोध संस्थानों, अकादमियों, विश्वविद्यालयों आदि को दिखावे के तौर पर स्वायत्तशासी संस्थान भी घोषित कर दिया गया लेकिन परोक्ष रूप से उनका नियंत्रण सरकार ने अपने हाथ में ही रखा। बाद के वर्षों में उत्सवों के जरिए देश के कला-रूपों का दोहन करने के उद्देश्य से विभिन्न राज्यों में भी क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्र और भारत भवन या नेहरू सांस्कृतिक केन्द्र कायम किए गए थे तो सीधे-सीधे सरकारी नियंत्रण में ही स्थापित किए गए। ऐसे संस्थानों में स्वायत्तता एक दुर्लभ-चीज है।"[24]

कला की स्वायत्तता को राजनेताओं और नौकरशाहों से बचाने के लिए व्यापक स्तर पर जन-आंदोलन की जरूरत है। जिसके चलते आम आदमी कला व संस्कृति का मतलब समझ सके और सरकार पर दबाव बना सके। हम लाख कोशिश करते रहें, कितना ही बखान करते रहें कि हम सदियों से विभिन्न धर्मों व जातियों के साथ मिल-जुलकर रहते आये हैं। बिना वैचारिक बदलाव के और बिना ऐसी शिक्षा व्यवस्था के जो लोगों के विचार-व्यवहार में क्रांतिकारी परिवर्तन लाये, इस सांस्कृतिक संक्रमण के दौर में 'गंगा-जमुनी' संस्कृति को बचा पाना कठिन है। *पी. सी. जोशी* लिखते हैं कि—"परिवर्तन तो सब कठिन ही होते हैं लेकिन सबसे कठिन परिवर्तन होते हैं मनुष्यों की वैचारिक पद्धति में, दृष्टिकोण में, विचार-दर्शन, मूल्यों, मान्यताओं और व्यवहार में....बिना एक नये बौद्धिक और भावात्मक उभार के, जो नये जीवन व्यवहार के लिए एक नया सांस्कृतिक आधार, एक नया

जीवन-दर्शन प्रदान करे, देश की सृजनात्मक शक्तियाँ पूर्णरूपेण नहीं उभर पायेंगी।"[25]

दुनिया के अन्य बहुत से देशों की तरह भारत भी एक बहुभाषी, बहुजातीय संस्कृति वाला देश है। ऐसे देश में सामासिक संस्कृति के विकास का अर्थ होता है, उन विभिन्न जातीय, भाषायी संस्कृतियों की विशिष्टताओं और पारस्परिक संबद्धता को स्वीकार करते हुए उनकी स्वायत्तता का सम्मान करना, उनमें अन्तर्निहित एकता के सूत्रों को पहचानना और उन्हें मजबूत करना। यह समन्वय और सामंजस्य उस सनातन भारतीय संस्कृति की अपनी मूल प्रकृति और ऐतिहासिक पहचान रही है। इस एक सूत्रता को मजबूत करने और उसे विकसित करने का कार्य संस्कृति की स्वाभाविक प्रक्रिया को अनुशासित या नियंत्रित करके नहीं किया जा सकता।

भारत गणराज्य 28 राज्यों और सात केन्द्र शासित प्रदेशों का एक ऐसा विशाल संगठन है जो अपने आप में एक उप-महाद्वीप की कल्पना को साकार करता है। सांस्कृतिक दृष्टि से जितनी विभिन्नताएँ किसी एक देश में हो सकती हैं, वे भारत के कई बड़े प्रदेशों में शताब्दियों से मौजूद रही हैं—चाहे वे भाषा और बोलियों को लेकर हों, धर्म और जातियों को लेकर हों या अलग-अलग वेश-भूषा, खान-पान और रहन-सहन को लेकर हों। इन सारी भिन्नताओं के बावजूद इन प्रदेशों की संस्कृति की अपनी अलग पहचान रही है, जिसमें सभी भाषाओं, धर्मों और क्षेत्रीय विशेषताओं का अपना साझा है।

हम जिस सामासिकता की बात करते हैं उसे शिवदान सिंह चौहान 'भारतीयता' कहते हैं। उनका कहना है कि भारतीय उपमहाद्वीप में विभिन्न जातीय और भाषायी समूह रहते हैं जिनकी एक सामान्य-सी पहचान बनती है—वही 'भारतीयता' है। भारत विभजन के लिए जिन्ना के 'दो राष्ट्रों का सिद्धांत' को उत्तरदायी ठहराया जाता है जो किसी हद तक ठीक भी है। जिन्ना जिस सिद्धांत को लेकर चले थे वह असफल हो चुका है। इसके तहत यह दावा किया गया था कि भाषा, संस्कृति या जनपदीय इतिहास के आधार पर नहीं बल्कि धर्म के आधार पर कौमों की पहचान होनी चाहिए। पाकिस्तान से अलग होकर बंग्लादेश के निर्माण ने इस बात को साबित कर दिया कि 'धर्म' किसी भौगोलिक इकाई में एकता स्थापित करने का स्थायी कारक नहीं हो सकता। 'इस संदर्भ में धर्म' हर सूरत में एक विघटनकारी शक्ति है, जिस तरह से मनुष्यों में भेदभाव करनेवाले नस्लवाद, जातिवाद और अंध-राष्ट्रवाद की विचारधाराएं होती हैं क्योंकि वे उन व्यापक मानवीय विचारों और

सरोकारों के विकास में और लोगों के अंदर उन चारित्रिक परिवर्तनों में बाधा डालती हैं जो बराबरी और आजादी की जनवादी धारणाओं के अनुसार सामान्य रूप से आचरण और व्यवहार करने की आदत को सहजता प्रदान करते हैं।''[26]

इस प्रकार 'भारतीयकरण', 'राष्ट्र की मुख्यधारा' जैसी शब्दावली जो भावात्मक एकता की बात करती है, राष्ट्रवाद की कोख से जन्म लेती है। इसमें यह भी निहित होता है कि बहुसंख्यक जाति या धर्म ही प्रधान है और अल्पसंख्यकों को इसी अनुरूप अपने को ढाल देना चाहिए। उन्हें अपने आचार-विचार, रस्म-रिवाज, मातृभाषा अपनी संस्कृति को त्याग कर बहुसंख्यकों के आचार-विचार, भाषा व संस्कृति को अपना लेना चाहिए।

शिवदान सिंह चौहान की भारतीयता की कल्पना में बराबरी और सामाजिक न्याय प्रमुख स्थान रखते हैं। उनके लिए भारतीयता मनुष्य की एकता और भाईचारे की भावना पर ही आधारित हो सकती है। उन्होंने लिखा भी है कि—''भारतीय की धर्म-निरपेक्षताकृत धारणा जो इंसान को इस्लाम और हिंदू संस्कृतियों की आपस में टकराती कट्टरताओं से ऊपर उठा सके, चौदहवीं और सोलहवीं सदियों में अंकुरित हुई थी। भारतीयता की इस नई धारणा का सामान्य पैटर्न दोनों हिंदू और इस्लामी संस्कृतियों के रचनात्मक तत्वों का, हमारे जीवन-दर्शन, हमारे काव्य हमारे संगीत, हमारे नृत्य, हमारी चित्रकला, हमारे वास्तु-शिल्प अर्थात् हमारे सौंदर्य बोध और मानवीय भावना में इस तरह से घुलमिल जाने से उभरा था, कि वह न शुद्ध हिंदू (उच्च जातीय) और न शुद्ध इस्लामी था, बल्कि जिसे एक सीमा तक 'भारतीय' कह सकते हैं।''[27]

बाहरी दुनिया के देशों ने भारत को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखा और अपने हिसाब से हमारे बारे में अनेक छवियाँ बनायी। सर्वप्रथम एक समृद्ध देश की छवि बनी, जो कभी सोने की चिड़िया माना जाता था और तब यहां दूध-दही की नदियाँ बहती थी। एक छवि बनी ज्ञान और चिंतन के क्षेत्र में समृद्ध संस्कृति की जहां के मनीषियों ने ब्राह्मांड की गंभीर गुत्थियाँ सुलझायी थीं। इसके बाद छवि बनी एक कर्मकांडी और विभाजित समाज की। एक समय में हम दुर्लभ मसालों और चकित कर देने वाले रेशम और मलमल के देश के रूप में जाने जाते रहे। पूर्व-विद्या के पण्डितों ने 'पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम है और दोनों कभी नहीं मिल सकते' का सिद्धांत प्रतिपादित कर हमें आध्यात्मवादी बता दिया गया। बिना तर्क और परीक्षण के हमने इस विश्लेषण और चरित्र-चित्रण को स्वीकार कर लिया। इसके बाद हम

योगियों, बाजीगरों, साँपों, शेरों, पवित्र गाय और नाचने वाले बंदर और भालुओं का देश माने जाने लगे। इन सब प्राचीन छवियों के साथ आज हमारी दो छवियाँ और हैं—भयावह गरीबी और भुखमरी वाले देश की और सीमित विकास या धीमी प्रगति वाले देश की। इन छवियों की अपनी सीमाएं हैं, न इन्हें पूर्णतया सत्य मान सकते, न ही पूर्णतया असत्य।

विश्व में सभ्यताओं का लंबा इतिहास है जिसमें भारतीय सभ्यता की एक विशेष पहचान और अस्मिता है। भारतीय संस्कृति में एक अद्‌भुत निरंतरता है। आज भी पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता में अतीत और वर्तमान के बीच की कड़ियाँ सशक्त हैं। यह मानना तो शायद अनुचित होगा कि हर दृष्टि में यह सभ्यता आदर्श ही थी क्योंकि इसमें अनेक विसंगतियाँ और विरोधाभास भी थे। उदाहरण के लिए कुछ लोगों को वर्ण-व्यवस्था में बहुत नीचा स्थान मिला था। जो इस व्यवस्था के अंग नहीं बने उन्हें बीहड़ वनों और एकाकी पर्वतमालाओं की तरफ धकेला गया।

अस्पृश्यता रूपी कलंक हमारे समाज के माथे पर मौजूद था। सैद्धांतिक रूप से कुछ धर्मग्रंथों के श्लोकों में भले ही हमने स्त्री को शीर्ष स्थान दिया हो, किंतु व्यवहारिक रूप में वह दोयम दर्जे की नागरिक ही थी। इन दोषों के बावजूद भारतीय सभ्यता केवल पुरातत्व की सामग्री न रहकर आज भी जीवित है। इसकी अदम्य जीवन शक्ति का रहस्य क्या है?

भारतीय संस्कृति को अक्सर लोग आध्यात्मिक संस्कृति कह दिया करते हैं। यह एक रूढ़ि बन चुकी है, इसका उचित परीक्षण नहीं हुआ है। *श्यामाचरण दुबे* ने लिखा है कि—"यह रूढ़ि कई दृष्टियों में बड़ी भ्रामक है। मानव-जीवन के चार प्रमुख लक्ष्यों-पुरुषार्थों में अर्थ और काम का उतना ही महत्व है जितना धर्म और मोक्ष का। प्राचीन ग्रंथों में यदि धर्मशास्त्र महत्वपूर्ण हैं तो अर्थशास्त्र और काम शास्त्र भी उपेक्षणीय नहीं हैं।"[28]

भारतीय सभ्यता के इतिहास में अलौकिक पक्षों के चिंतन के साथ-साथ भौतिक संस्कृति का भी विकास हुआ है। आध्यात्मिक संस्कृति के बरक्स भौतिक संस्कृति की खास बात यह है कि इसमें एक क्रमिक विकास दिखाई देता है। समसामयिक भारतीय मृद-कलाओं को सिंधु घाटी सभ्यता के उत्पादनों से जोड़ा जा सकता है। आदिम मानव ने लोहे को शुद्ध कर अस्त्र-शस्त्र बनाना आरंभ कर दिया था, परन्तु लोहे के फल वाले हल का प्रयोग संभवतः मौर्यकाल में आरंभ हुआ। इसका व्यापक पैमाने पर प्रयोग आज तक भी हो रहा है।

कट्टरवाद भारत की धार्मिक परम्पराओं का मूल स्वर कभी नहीं रहा। यद्यपि इतिहास में इस तरह के मोड़ भी आये हैं जो हिंसात्मक धर्मांधता से प्रेरित थे। *श्यामाचरण दुबे* ने लिखा है कि–"सनातन की खोज भारतीय मनीषा से जुड़ी है, किंतु धर्म के किसी रूप को हमारी सभ्यता ने परीक्षा की कसौटी से ऊपर नहीं माना।"[29]

भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने में अनेक तत्वों का सहयोग रहा है जैसे–विरोध, असहमति, शंका, सुधार और विद्रोह की परंपराएं आदि। भारत के अनेक संत कवियों ने इसमें बड़ा योगदान दिया। संत कवियों ने समय-समय पर सामाजिक, धार्मिक अत्याचारों और आडम्बरों से लड़ने के नए-नए मुहावरे विकसित किये। अन्याय से लड़ने के लिए न केवल वैकल्पिक समाज व्यवस्था की वकालत की बल्कि आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह का समर्थन भी किया।

दुर्भाग्य की बात है कि संत कवियों की यह परंपरा बीच में ही रूक गयी, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच मौजूद कृत्रिम भेदों को मिटाकर एक समतामूलक समाज व संस्कृति का निर्माण करना चाहते थे। इस परंपरा का गहरा प्रभाव भारतीय समाज पर आज भी मौजूद है। आज भी कबीर की कविता से दलित और पिछड़ा तबका व मीरा को कविता से स्त्री समाज वैचारिक ऊर्जा प्राप्त करता है।

मनुष्य की एकता और भाईचारे की भावना सामासिकता के तर्क के चलते ही स्थायी हो सकती है। इसके लिए लेखकों, कलाकारों एवं संस्कृति कर्मियों को आगे आना होगा। साथ ही यह भी आवश्यक है कि लेखक अपनी संस्कृति के अलावा अन्य संस्कृतियों को भी निकट से जाने-पहचाने और उनकी अच्छाइयों को आत्मसात कर समाज के सामने पेश करें। साथ ही यह भी जरूरी है कि लेखक संस्कृति के रूढ़िवादी और दकियानूसी पैटर्नों से मुक्त होकर प्रगतिशील और इंसान परस्त पैटर्नों की पहचान करें। संक्षेप में 'इसका अर्थ यह निकलता है कि बिना किसी तरह के भेदभाव के हम इस हक़ीक़त को पहचानें कि दक्षिण भारत के लोगों के लिए कावेरी नदी और पंजाबियों के लिए चिनाब नदी उतनी ही पवित्र हो सकती है, जितनी की उत्तर भारत के हिंदुओं के लिए गंगा है।"[30] अर्थात हमें हर स्तर पर समतामूलक संस्कृतिक निर्माण के लिए हर भाषा, धर्म और क्षेत्र की उचित अस्मिता का सम्मान करना होगा साथ ही उन्हें बराबरी का दर्जा भी देना होगा।

भारतीय सभ्यता में बाह्य तत्वों को आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता रही है। कबीलों

ने भारतीय सभ्यता को पहले-पहल कुछ दिया, बाद में बहुत कुछ ग्रहण किया। उनमें से कुछ उभरते समाज में घुल-मिल गये, कुछ का अलग स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा। द्रविड़ भाषी लोगों ने सभ्यता के विकास की धारा को एक नया मोड़ दिया। फिर आर्य भाषा बोलने वाले कबीलों का आगमन हुआ और उन्होंने द्रविड़ भाषी लोगों से मिलकर सभ्यता को नई दिशा और गति दी। इसके बाद भी यह प्रक्रिया चलती रही। यूनानी आये, शक आये, कुषाण आये और अपनी-अपनी भेंट देकर भारतीय समाज के अंग बनते चले गये।

सांस्कृतिक विकासधारा का रूख इसके बाद कुछ बदला लेकिन सांस्कृतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं हुआ। अनेक दिशाओं और देशों से मुसलमान आये और अपने साथ अपना धर्म और संस्कृतियाँ लाये। इस्लाम का भी कालान्तर में भारतीयकरण हुआ। यह कहना पूर्णतया सही नहीं होगा कि मुसलमानों ने सिर्फ मंदिर तोड़े और मसजिदें बनवायी। हिंदु और मुस्लिम संस्कृतियों का बौद्धिक धरातल पर संवाद हुआ। मुसलमानों को संस्कृत के समृद्ध साहित्य ने प्रभावित किया। दर्शन, ज्योतिष, गणित, स्थापत्य, चिकित्सा आदि क्षेत्र में दोनों संस्कृतियों में परस्पर मेल-जोल बढ़ा। खान-पान, वेश-भूषा, शिष्टाचार आदि पर इस्लाम ने अपनी अलग छाप छोड़ी। सूफी संत अपनी विशिष्टता के कारण हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मावलंबियों के पूज्य बने। उनकी मजारों को आज भी हिंदू और मुस्लिम समान रूप से पूरी श्रद्धा से पूजते हैं।

कुछ हिन्दुओं द्वारा इस्लाम स्वीकार करने के बाद भी उनकी सामाजिक बुनावट में कोई खास बदलाव नहीं आया, जाति प्रथा किसी न किसी रूप में उनमें बनी रही जो कई क्षेत्रों में आज तक विद्यमान है। *श्यामाचरण दुबे* ने लिखा है कि–"पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आज भी राजपूत और त्यागी मुसलमान अपने-आप का परिचय इसी तरह देते हैं। पंजाब के गाँवों में आपको आज भी हिंदू मुसलमान और सिख जाट मिलेंगे जो पुराने रक्त और विवाह-संबंधों का अब भी आदर करते हैं। मुसलमानों का एक समूह ऐसा भी है जिसमें व्यक्तियों के मिले-जुले हिंदू-मुसलमान नाम होते हैं।"[31]

यही कहानी मेवात के मेवों की है जिन्होंने इस्लाम स्वीकारने के बाद भी अपनी पुरानी परम्परायें, जीवन-शैली नहीं बदली।

इसी प्रकार हम ईसाई धर्म के बारे में कह सकते हैं। संत पाल ने भारत के दक्षिण भाग में इस धर्म की नींव सन् 1852 में रखी थी। केरल और तमिलनाडु में पहले-पहल ब्राह्मणों

के कई परिवारों ने ईसाई धर्म अंगीकार किया। यहां धर्मोपदेश के तरीके से लेकर जातिप्रथा तक का स्वरूप आज तक विद्यमान है। यहां आज भी ऊँची जातियों और नीची जातियों के गिरजे अलग-अलग बने हुए हैं।

यदि हमारे समाज में समन्वय और सांस्कृतिक विभिन्नता के सह-अस्तित्व की आदत न होती तो आज उसका स्वरूप भी सामासिक नहीं होता। यह प्रक्रिया इतनी आसान नहीं थी इसमें संघर्षों का क्रम भी चला फिर भी सामासिकता की विजय होती रही उसने समाज को विघटन से बचा लिया।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में भी सामासिकता के तत्व देखे जा सकते हैं। इस आंदोलन की एक बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने भारतीय समाज में एक भावात्मक एकता को मजबूत किया। आजादी के लक्ष्य के सामने हमने अपने धार्मिक, क्षेत्रीय और जातीय विवादों को भुला दिया। सभी धर्म, जाति व क्षेत्र के रहने वाले आजादी के नायकों को समान रूप से सम्मान व गौरव मिला। राष्ट्रीयता के इस उभार के सामने उपराष्ट्रीयताएँ दब गई। स्वाधीनता आंदोलन के विराट लक्ष्य की प्राप्ति के बाद ये शक्तियाँ पुनः उभरी और राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में अवरोधक बन गई। साम्प्रदायिक शक्तियाँ राष्ट्रीय उद्देश्यों से अधिक समय तक जुड़ी न रह सकीं, जिसके परिणामस्वरूप हमें देश विभाजन की त्रासदी को भोगना पड़ा। *श्यामाचरण दुबे* ने ठीक कहा है कि, "यह एक विडंबना है कि हमें एकीकृत रहने के लिए किसी-न-किसी शत्रु या संकट की आवश्यकता पड़ती है।"[32]

भारत एक बहुभाषी देश है, जिसमें अनेकों संस्कृतियों, आस्थाओं और रश्मों-रिवाजों का साझा है। इसलिए भाषा या संस्कृति का कोई एक फॉर्मूला इस बात का दावा नहीं कर सकता कि वही समस्त भारत की संस्कृति का एकमात्र प्रतिनिधि रूप है।

सामासिकता की अवधारणा इंसान को कट्टरता से ऊपर उठाकर मानवीय भावभूमि पर ले जाती है। इस का सामान्य स्वरूप हिंदू और इस्लामी संस्कृतियों के रचनात्मक तत्वों-काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, वास्तु-शिल्प आदि के इस तरह घुलमिल जाने से उभरा था जो न तो शुद्ध रूप में इस्लामी था, न शुद्ध हिंदू, बल्कि जिसे एक सीमा तक 'भारतीय' कह सकते हैं। लेकिन आजकल जिस साहित्य को 'भारतीय' कहने की प्रथा चल पड़ी है, वह भारतीय नवजागरण के समय विकसित हुई 'भारतीयता' की व्यापक धारणा के बिल्कुल विपरीत है। इस साहित्य में नवजागरण के दौर से पूर्व के रूढ़ और जड़ीभूत साम्प्रदायिक मनोभावों को

ही दोहराने की प्रवृत्ति है। प्रगतिशील आंदोलन ने नवजागरण के दौर की इंसान-परस्त प्रवृत्तियों को नया 'सेक्यूलर' संस्कार दिया और आजादी के बाद जिसे भारतीय संविधान में भी सामिल किया गया।

रामानंद, कबीर, नानक, लल्लादे, बुल्लेशाह, शेख फरीद, जायसी, वारिसशाह तथा अन्य अनेक सूफ़ी कवियों ने इस सांस्कृतिक समन्वय के लिए नई भाषा और नए मुहावरे की खोज की थी। इनके लेखन में मानव-मानव के बीच प्यार और भाईचारे का पैगाम था। इन्होंने सभी तरह की भेदपरक दीवार जो मनुष्य-मनुष्य में अंतर पैदा करती थी, का विरोध किया जिन्होंने देश को रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में 'देश को संकीर्ण कोटरों की दीवारों में बांट रखा था।'

संस्कृतियों और सभ्यताओं का यह सम्मिश्रण या संकरण हमारी ललित कलाओं, वास्तुशिल्प, संगीत-नृत्य, पहनावे के कपड़े और डिज़ाइन, खान-पान और साहित्य-कला में इस तरह हुआ है कि उनके रूप और डिज़ाइन में सुंदर से सुंदरतम अभिनव-रूप उभरे हैं। गालिब, टैगोर, इकबाल ने साहित्य में, राजनीति में-गांधी और नेहरू ने बुनियादी तौर पर अमीर खुसरो, कबीर, नानक और वारिसशाह की ही परम्परा को लेकर सामासिकता की एक नई धारणा का विकास किया है।

TH-12797

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, पटना-16, द्वितीय संस्करण-1962, पृष्ठ-16
2. पूरनचन्द्र जोशी, स्वप्न और यथार्थ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण-2000, पृष्ठ-98
3. पूरनचन्द्र जोशी, उद्धृत स्वप्न और यथार्थ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण 2000, पृष्ठ-98
4. एस. आबिद हुसैन, भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली-110016, संस्करण 1987, पृष्ठ-3
5. वही, पृष्ठ-3
6. वही, पृष्ठ-3
7. पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण 1995, पृष्ठ-19
8. सं. नानक चंद, इन्द्रप्रस्थ भारती, जनवरी-मार्च 2004, पृष्ठ-49
9. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला संस्करण-1954, पृष्ठ-157
10. रामधारी सिंह दिनकर, उद्धृत, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ-75
11. वही, पृष्ठ-75
12. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृष्ठ-134
13. रामधारी सिंह दिनकर, उद्धृत, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ-647
14. सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, दिसम्बर 1999, पृष्ठ-58
15. एस. आबिद हुसैन, भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृष्ठ-3
16. वही, पृष्ठ-8
17. पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति : वर्चस्व एवं प्रतिरोध, पृष्ठ-30

18. श्यामाचरण दुबे, परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-02, पहला संस्करण : 1991, पृष्ठ-18

19. श्यामाचरण दुबे, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-02, द्वितीय संस्करण 2000, पृष्ठ-29

20. पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध, पृष्ठ-39

21. वही, पृष्ठ-166

22. पूरनचन्द्र जोशी, स्वप्न और यथार्थ, पृष्ठ-105

23. वही, पृष्ठ-105

24. जनसत्ता, 13 मई 2003, लेख-संस्कृति नीति की प्राथमिकताएं

25. पूरनचन्द्र जोशी, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण 1987, पृष्ठ-27

26. शिवदान सिंह चौहान, परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-02, पहला संस्करण 1999, पृष्ठ-160

27. वही, पृष्ठ-160

28. श्यामाचरण दुबे, परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति, पृष्ठ-41

29. वही, पृष्ठ-42

30. शिवदान सिंह चौहान, परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृष्ठ-167

31. श्यामाचरण दुबे, परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृष्ठ-43-44

32. वही, पृष्ठ-45

द्वितीय अध्याय

सामासिक संस्कृति और मेवात क्षेत्र की परंपराएं

सामासिक संस्कृति और मेवात क्षेत्र की परंपराएं

समाज की जड़ें अतीत में होती हैं, वह वर्तमान में जीता है और भविष्य उसके लिए चिंता और प्रावधान का विषय होता है। परंपराएँ अतीत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य से जोड़ती हैं। परंपराओं के माध्यम से सामाजिक जीवन को निरंतरता मिलती है और उसका स्वरूप भी निर्धारित होता है। परंपराएं समाज की आत्म-छवि का अविभाज्य अंग होती हैं और जीवन के अनेक क्षेत्रों में परंपराएं समाज का दिशा-निर्देश करती हैं। दुनिया में कोई समाज ऐसा नहीं हो सकता जो अपनी परंपराओं से कटा हो।

परंपराएं जब तेजी से टूटती हैं तब समाज की जातीय अस्मिता का ह्रास होने लगता है। स्थिति धीरे-धीरे इतनी बिगड़ती है कि समाज अपने अस्तित्व की आहटें सुनने में असमर्थ हो जाता है। इस संदर्भ में देखें तो मेवात में परंपराओं का टूटना साफ दिखाई देता है। मेवाती समाज में जो समस्याएं पैदा हुई हैं उसका एक कारण परंपराओं का टूटना भी है। मेवाती समाज तेजी से करवट ले रहा है, तरह-तरह के झटके बाहर-भीतर से वह झेल रहा है।

परंपरा संस्कृति का वह भाग है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक एक निरंतरता बनी रहती है। यह जरूरी नहीं है कि परंपरा जीवन के हर क्षेत्र में समान रूप से प्रभावी हो। धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों की परंपराओं में परिवर्तन धीमी गति से होता है, सामाजिक संस्थाओं और व्यवहार की परंपराओं के कुछ पक्षों में, धर्म की तुलना में, बदलाव की गति अधिक तेज हो सकती है।

परंपरा की परिधि का निर्धारण उसे देखने और समझने की दृष्टि पर निर्भर करता है। यह दृष्टि परंपरा के तटस्थ अध्येताओं के साथ उनकी भी हो सकती है जो सामाजिक क्रियाओं की व्याख्या उसकी गति और दिशा निर्धारित करने के लिए करते हैं। एक श्रेणी के दार्शनिकों ने परंपरा को समग्र और एकीकृत रूप में देखने का प्रयाय किया है तो दूसरी

श्रेणी के प्रयासों में केन्द्रीय परंपरा के साथ उसके विभिन्न स्वरूपों पर विचार किया है। परंपरा का आधार शास्त्र और लोक दोनों हैं, कुछ दृष्टियाँ लोक को महत्व देती हैं, कुछ शास्त्र को। परंपरा की कुछ उपधाराएँ बदलती परिस्थितियों और नये प्रभावों के कारण नया रूख अपनाती हैं। जातीय भावना पर आधारित कुछ अलगाववादी आंदोलन इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। जैसे मुसलमान भारत की सामासिक संस्कृति के अंग रहे हैं। उनके नेतृत्व के एक भाग ने अपने आपको भिन्न राष्ट्र घोषित किया और वे भारत विभाजन में सफल भी हुए। सिख धर्म के नेतृत्व का भी एक भाग अलग कौम होने का दावा कर स्वायत्तशासी तथा प्रभुसत्ता-प्राप्त पृथक् राज्य की माँग कर रहा है। भावावेश में आकर ये लोग ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को भुलाकर अपनी परंपरा को भिन्न मान रहे हैं।

परंपरा और उससे संबद्ध संस्कृति मानव के सामूहिक अस्तित्व का अविभाज्य अंग होती हैं। परंपरा से कटकर मनुष्य धुरीहीन हो जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों को परंपरा से एक विशेष पहचान मिलती हैं। परंपरा पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों की तरह नहीं होती जिसे जब चाहा तब फेंका जा सके। परंपरा से हमारा किस तरह का नाता हो इसके बारे में *पुरुषोत्तम अग्रवाल* ने लिखा है "परम्परा से रिश्ता विवेकपूर्ण जुड़ाव का हो, राजनीतिक उपयोगितावाद या कोरे भावुक प्रेम का नहीं।"[1]

परंपरा का जब राजनीतिकरण होने लगता है तब अनेक समस्याओं का जन्म होता है। इसी से आपसी विश्वास में कमी आती है। इसी प्रक्रिया के चलते 'हम' और 'वे' की दूरियां बढ़ती हैं। सहज सह-अस्तित्व में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और प्रकारान्तर से अपसंस्कृतियों का उदय होता है। कई सौ वर्षों के पड़ोसी कुछ ही वर्षों में बेगाने हो जाते हैं। जो लोग कल तक एक-दूसरे के सुख-दुख में साथी थे, वे कुछ ही दिनों में एक-दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। मेवात में कमोबेश इसी तरह की स्थिति पैदा करने की कोशिशें हो रही हैं। मेवात में कुछ बाह्य तत्वों के द्वारा मेवों की हर परम्परा पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जाता है। इसमें इलाके के प्रमुख राजनीतिक ज्यादा बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते हैं और उनका साथ देते हैं छुटभैया नेता। '*काला पहाड़*' में बाबू खां इस विषय का प्रतिनिधि पात्र है। बाबू खाँ राजनीतिज्ञों द्वारा फैलायी जा रही साम्प्रदायिक भावना के चक्कर में आकर अपनी ही परंपरा को तोड़ डालना चाहता है। बाबू खाँ अपने पिता सलेमी के लाख मना करने पर भी अपने पुत्र की शादी में अनेक परंपराओं से अपने को अलग कर लेता है। वह शरीयत और हदीस का हवाला देकर वर्तमान परंपराओं को ईस्लाम विरुद्ध बताता है।

परंपरा के प्रश्न पर काफी सावधानी बरतने की जरूरत होती है क्योंकि परंपरा से जातीय गरिमा और अस्मिता के प्रश्न जुड़े हैं। भावात्मक धरातल पर यह बहुत ही संवेदनशील विषय है और विशेष परिस्थितियों में यह किसी भी तर्क को स्वीकार नहीं करती। आज का दौर वैसे भी 'भावनाओं के आहत होने का दौर है।'

उपरोक्त बातों के आलोक में हम मेवात की परंपराओं की पड़ताल करने की कोशिश करेंगे। हम यह भी देखेंगे की किस तरह मेवात की परंपराओं का स्वरूप बदल रहा है। इसके पीछे छिपे आन्तरिक और बाह्य कारणों की भी पड़ताल करने की कोशिश करेंगे। हमारी कोशिश यह भी रहेगी कि परंपरा के बदलते स्वरूप के बाद निर्मित संस्कृति में क्या ऐसा है जो अपसंस्कृति का रूप धारण करता है और समाज को नुकसान पहुँचाता है। मेवात राजस्थान, हरियाणा व उत्तर प्रदेश का सीमान्त क्षेत्र है। लार्ड सन्नू खाँ 'मेव' ने एक दोहे के माध्यम से मेवात के क्षेत्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया है–

"दिल्ली, मथुरा, आगरा, बयानो रे बैराठ,

बीच मुलक मेवात है पच्छिम अलवर राठ।"[12]

मेवात क्षेत्र दिल्ली के दक्षिण में गुडगांव तथा सोहना से शुरू होता है। सोहना से चलकर तावडू, भिवाड़ी मोड़, टपूकड़ा, तिजारा, किशनगढ़, खैरथल, जीन्दोली की घाटी, चान्दोली, धोली दूब, विजय मंदिर, अलवर, उमरैण, अकबरपुर, नटणी का बारा, बीजवाड़ा, मालाखेड़ा, बारा, भड़कौल, मौजपुर, लक्ष्मणगढ़, हिटपुरी, कठूमर, तसईनगर, डीग, कांमा, कोसी, होडल, पलवल, वल्लभगढ़ होते हुए फिर सोहना से जा मिला है। उपरोक्त दोहे के माध्यम से इसी क्षेत्र का वर्णन मिलता है।

परन्तु अब चारों ओर से मेवात की सीमाएं सिकुड़ गई हैं। अब रेवाड़ी से भिवाड़ी और गुड़गांव से सोहना तक आ गई है। दूसरी तरफ इसकी सीमाएं पलवल से हथीन, मथुरा से गोवर्धन, आगरा बयाना से कठूमर और बैराठ से अकबरपुर तक आ गई है। इस सीमा संकुचन पर चिन्ता व्यक्त करते हुए एक कवि ने लिखा है –

'चारू घां सू सुकड़ती जा री है मेवात।

सब भीतर कू भग रहा कितनी उलटी बात।।'[13]

डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा ने मेवात के क्षेत्र को चित्र द्वारा निम्न प्रकार से दर्शाने का प्रयास किया है–

मेवात का मानचित्र

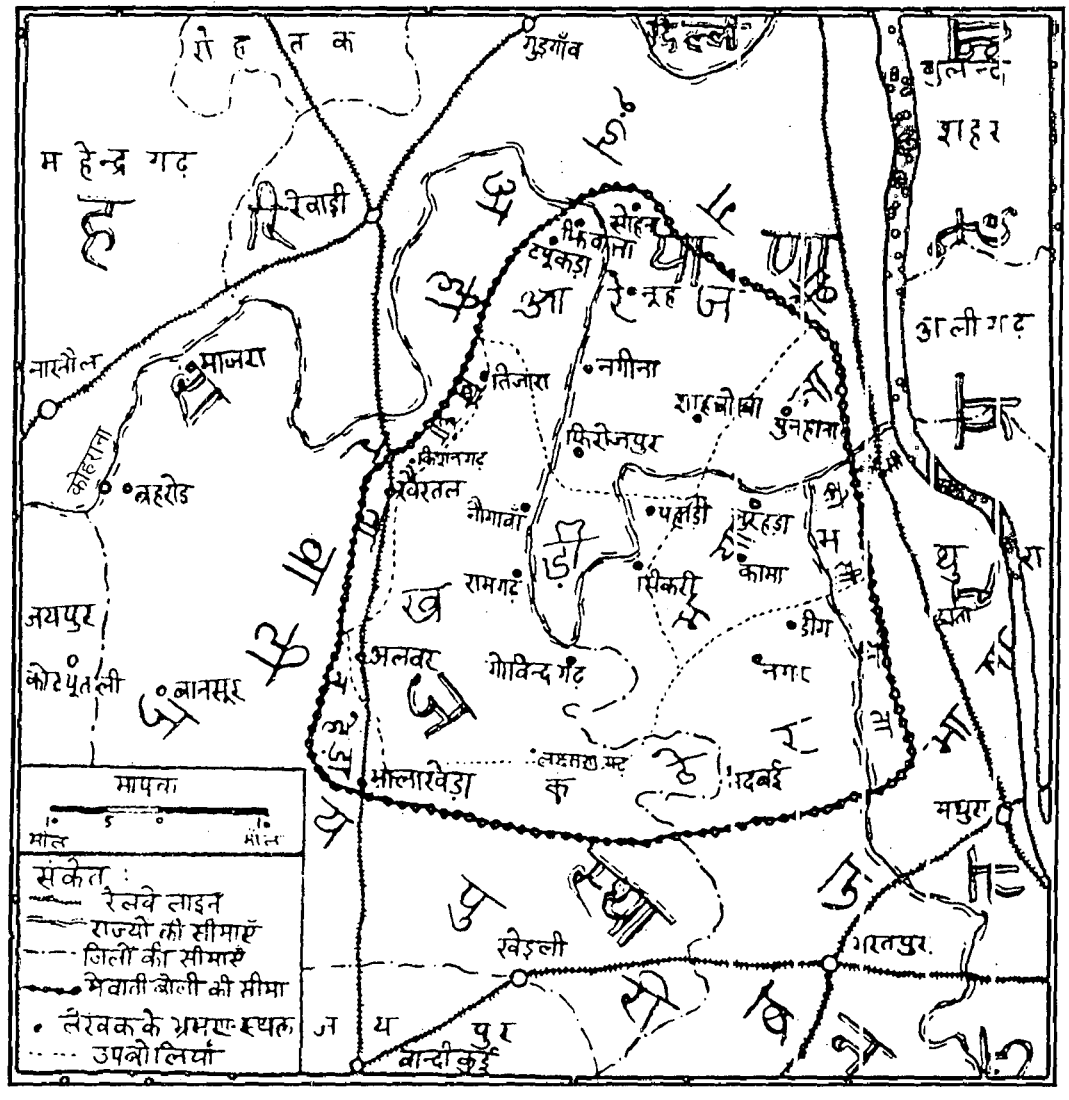

मेवात का उपरोक्त क्षेत्र अरावली पर्वतमाला की तराइयों में फैला है—"जो उत्तर से दक्षिण तक लगभग 100 मील, पूर्व से पश्चिम तक लगभग 75 मील लम्बा है।"[5]

मेवात के इस क्षेत्र में मेव आबादी बहुसंख्यक है लेकिन बहुत-सी हिन्दू जातियाँ भी यहाँ निवास करती हैं। जैसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जाट अहीर, गूजर, सैनी, जाटव, पंजाबी, जोगी, सुनार, कुम्हार, नाई, धोबी, मीरासी आदि। हरियाणा में मेवात का सर्वाधिक क्षेत्र है,

इसके बाद क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान दूसरे स्थान पर व उत्तर प्रदेश तीसरे स्थान पर है। विभिन्न प्रदेशों की सीमा में विभाजित होने के बाद भी इस संस्कृति का अपना स्वायत्त चरित्र आज भी मौजूद है। इन प्रदेशों के अनेक जनपदों, कई प्राचीन जनजातियों और गौरवशाली जनों से युक्त इस संस्कृति की अपनी कुछ खास विशेषताएं हैं जो उसे अलग पहचान देती है। मेवाती संस्कृति के तत्व इन जातियों की परंपराओं और लोक जीवन में समाए हुए हैं। मेवात की बोली, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन शैली ने इसकी चिन्तन परंपरा को एक ऐसा स्वरूप प्रदान किया है, जिससे यहाँ का आदमी कभी भी कट्टरता का शिकार नहीं रहा।

मेवात की संस्कृति साधु-संतों की बानियों से सरोबार है। मेवात के लोक कवियों की कविताओं से यहां की संस्कृति फली-फूली है। सूफी कवि भीकजी, संत चरणदास, संत लालदास, कवयित्री सहजोबाई, दयाबाई, संत सादल्ला, जनकवि अलीबख्स, हजरत खक्वे, नत्थू, ऐवज़ व दानशाह आदि सभी लोक कवियों ने यहां की संस्कृति में उच्च मानवीय जीवन-मूल्यों का हमेशा संचार किया है। "इन सभी कवियों ने धर्म और जाति से ऊपर उठकर एकेश्वरवाद को अपनाया। चाहे राम कहो या रहीम एक ही परम तत्व से उपजे हैं।"[6] विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए मेवाती लोग कट्टरवादी धार्मिक आस्थाओं और संकीर्ण दृष्टि को त्यागकर प्रेम, बंधुत्व और सद्भावना का परिचय देते आये हैं। इस सद्भावना का एक कारण यह भी है कि यहां की लोक परंपरा इतनी मजबूत है जो किसी भी प्रकार की विभेदपरक दीवार को ज्यादा देर तक ठहरने नहीं देती।

भारतीय अर्थव्यवस्था मूलतः कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है। मेवाती लोग भी कृषि से ही अपना गुजर-बसर करते हैं। कृषि कार्य में अपने आप एक साझापन होता है, यहाँ एक-दूसरे के बिना कोई कार्य पूर्ण नहीं होता। *सुधीश पचौरी* ने लिखा है कि, "हिंदी की नागरकथाओं में जो अजनबीपन मिलता है यहां उसके उलट एक जबर्दस्त सघनता वाली दुनिया है जहां एक घर दूसरे से हमेशा लेने देने में व्यस्त है, जहां किसी का काम अकेले नहीं होता, जहां विचित्र सामासिकता है। नेग, छोछक, शादी-ब्याह, सगाई, मौत, उत्सव सबके हैं। सबके दरवाजे सबके लिए खुले हैं। कोई 'निजता' (प्राइवेसी) नहीं है क्योंकि जीवन सामूहिक और सामुदायिक है। मेवात का यह माडल हमारे बीच अभी तक बची पुरानी कृषक-सामूहिकता का दुर्लभ नमूना है।"[7] कृषि कार्य में सिर्फ मेव ही नहीं लगे हैं बल्कि गूजर, अहीर, मीणा,

चमार, जाट और यहां तक कि ब्राह्मण भी लगे हुए हैं। श्रमिक, व्यापारी व दूकानदार आदि को एक-दूसरे की जरूरत पड़ती रहती है। इनमें जातीय भावना भड़काकर इन्हें आपस में लड़ाया और अलग तो किया जा सकता है, परन्तु इन्हें लंबे समय तक अलग रखना बहुत मुश्किल है। ग्रामीण जीवन को रसमय बनाये रखने वाले विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रम यहां समय-समय पर होते रहते हैं। जैसे-मेले-ढेले, बाजार, खेल-तमाशे, रामलीला, रासलीला आदि। मेव और हिन्दू इन कार्यक्रमों में इस कदर घुल-मिल जाते हैं कि इन्हें अलगाना बड़ा मुश्किल है। मुहर्रम में एक विशेष बात यह होती है कि यहां हिन्दू और मेव दोनों समुदाय अपना अलग-अलग ताजिया निकालते हैं और दोनों ही समुदायों के लोग इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। यह एक ऐसी परंपरा है जो शेष भारतीय संस्कृति से मेवाती संस्कृति की अलग पहचान बनाती है।

दिन की कठोर मेहनत के बाद रात की थकान दूर करने के लिए थड़ियों पर सभी गांव वाले इकट्ठे होकर गाते हैं। कृष्ण भक्ति के गीत इसमें विशेष आकर्षण के केन्द्र होते हैं। गांव की चौपाल और सर्दी में अलाव के चारों ओर बैठकर किस्से-कहानियां कहने-सुनने की यहां परंपरा है। हिन्दू-मेव एकता और सद्भाव का यह विरल संयोग है।

शादी-ब्याह के अवसर पर सभी हिन्दू-मेव समान रूप ये भाग लेते हैं। साथ-साथ नाचना-गाना, औरतों का मिल-जुलकर गीत गाना, यहां की परंपरा का हिस्सा है। इन कार्यक्रमों में हिन्दू-मेव स्त्री का भेद तो खत्म हो ही जाता है, साथ ही गाये जाने वाले गीत का भेद भी मिट जाता है कि यह मुस्लिम गीत है या राम-कृष्ण के हिन्दू गीत। जैसे—पंचपीर और दादाखान् पर गलेप चढ़ाने जाती हुई महिलाएं एक स्वर में गाती हैं—

'राम और लिच्छमन दसरथ के बेटे
दोनों बन-खंड जाएं
एक बन, दो बन, तीजे बन में प्यास लगी
ना वाँ कुआँ, ना जोहड़
हर के घर से उठी बदलिया
बरसे मूसलधार
भर गए कुआँ, भर गए जोहड़

भर एक समंद-तलाब

हे री ऽ ऽ कोई राऽम मिले भगवाऽऽन।[8]

लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता अब दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। इसका प्रमुख कारण राजनैतिक एवं धार्मिक है। राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थ के चलते भोले-भाले मेवातियों में जातिवाद की भावना भरने का कार्य किया है। धार्मिक चरित्र भी संदिग्ध हैं, चाहे वे विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंग दल के कार्यकर्ता हों या आर्य समाज मंदिर के महंत स्वामी रूपानंद सरस्वती, दूसरी तरफ चाहे इलाके के कुछ छुटभैया नेता हों जो दिल्ली की जामा मस्जिद के इमाम से मिलकर आये हैं या देवबंद से आयी मौलवियों की जमात हो, सभी ने इस साझा संस्कृति को तोड़ने की ही कोशिश की है। देवबंद से आयी मौलवियों की जमात पूरे मेवात में घूमने-फिरने के बाद क्षेत्रीय नेता चौधरी करीम हुसैन से कहती है कि—"हम चाहते हैं कि मेवात में मुसलमानों को इस्लाम की तालीम की जाए, हमने पूरे इलाके में घूमकर देखा है और यह गौर किया है कि यहाँ के मुसलमानों में मजहब में कोई खास दिलचस्पी नहीं हैं।"[9] मुसलमानों को मजहब की तालीम देना तो ठीक है लेकिन मजहबी-तालीम के नाम पर उन्हें कट्टर और जड़ बनाना कहां तक उचित है? यही दीनी-तालीम आगे चलकर मेवात की सामासिक संस्कृति के लिए खतरा भी बनती है।

मध्यकाल में व्यापक स्तर पर धर्मांतरण हुआ, इससे मेवात भी अछूता नहीं रहा अनेक लोग हिन्दू से मुसलमान बने। जिस प्रकार से भारत के अन्य हिस्सों में धर्मांतरित लोगों ने पूर्व धर्म में प्रचलित परंपराओं को नहीं छोड़ा उसी तरह मेवात के लोगों ने भी अनेक परंपराओं और मान्यताओं को अपनाए रखा। इसी का नतीजा है कि मेवात में हिंदू और मुस्लिम समाज में कुछ परंपराएं संयुक्त रूप से चली आ रही हैं। यह साझा संस्कृति तथा इस तरह की साझी परंपराएं ही सामासिकता को मजबूत करती हैं। लेकिन एक-डेढ़ दशक से सामासिक सद्भाव के वातावरण में अन्तर आया है। इसके मूल में धार्मिक कट्टरपंथ का उदय और स्वार्थ की राजनीति है। यह देशव्यापी बीमारी है, इसके कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में दूरी बढ़ी है। बड़े दुख की बात है कि हमारा पढ़ा-लिखा नौजवान तबका इस दूरी को कम करने की बजाय उसे बढ़ावा ही दे रहा है। *भगवानदास मोरवाल* ने अपने हालिया प्रकाशित दूसरे उपन्यास '*बाबल तेरा देस में*' में इस समस्या की तरफ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। इस उपन्यास का एक नौजवान विद्यार्थी युनुस जो मेवात का रहने

वाला है, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से 'लॉ' की डिग्री लेकर आता है। मेवात में वापस आकर वह देखता है कि यहां निकाला जाने वाला ताजिया 'इस्लामिक कल्चर' के अनुसार नहीं है। युनुस ताजिये को सैयदों की तरह निकालने की बाकायदा रिहर्सल के साथ कोशिश करता है लेकिन यह सारी कवायद न केवल असफल होती है बल्कि हास्यास्पद भी सिद्ध होती है। मेव इसे पचा नहीं पाते और युनुस व गांव के बढ़े-बूढ़ों में तकरार हो जाती है।

मेवात में निकाला जाने वाला ताजिया सद्भावना के प्रतीक के रूप में होता है, जिसमें सभी जाति-धर्म के लोग हिस्सा लेते हैं। उपन्यासकार यहां बताना चाहता है कि हमारा युवा वर्ग पढ़-लिखकर अधिक कट्टर हो रहा है। '*काला पहाड़*' में भी बाबू खाँ इसी युवा वर्ग का प्रतिनिधि है जो कट्टरपंथ की राह चल निकला है। वह साझी संस्कृति की सभी परंपराओं पर प्रश्न उठाता है तथा 'इस्लामिक कल्चर' के अनुसार नई परंपराएं डालने की कोशिश करता है जिसके चलते समाज में सद्भावना का वातावरण कमजोर पड़ता है। *सुधीश पचौरी* लिखते हैं कि–"मेवात की नई पीढ़ी-हिसाबी-किताबी होने लगी है। सलेमी का बेटा बाबू खाँ इसी का प्रतिनिधि है। साझा संस्कृति के हिमायती माता-पिताओं के बच्चे कट्टरतावादी हो रहे हैं तो यह सिर्फ सलेमी की ही विवशता नहीं है। एक बड़ी सूचना दे रहा है उपन्यास। समाजशास्त्र के विद्यार्थी इसे समझ सकते हैं कि वह किस तरह से विभक्तियों के बनने की सूचना दे रहा है।"[10]

मेवात के हिंदू-मुस्लिम आपस में एक दूसरे के सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रतीकों का सम्मान करते आये हैं। मेवात में दादाखानू की एक मजार है जहां हिन्दू-मेव समाज श्रद्धाभाव से इसे पूजते आये हैं। हिंदुओं में यह विश्वास है कि दादाखानू पर 'गलेप' चढ़ाने से उनके परिवार में सुख-समृद्धि आती है और वंशवृद्धि होती है। मनीराम कहता है कि यह दादाखानू का ही प्रताप है कि आज तक मेरे किसी बच्चे पर कोई संकट नहीं आया है। लेकिन अब स्थिति बदल रही है, दादाखानू का फकीर (सुमान खाँ) मनीराम के पौत्र जन्मोत्सव पर चढ़ाये जाने वाले 'गलेप' व 'सेनक' लेने से मना कर देता है। फकीर का बहाना होता है कि पुरुखों के इस कार्य से अब गुजारा नहीं होता लेकिन सलेमी के दबाव देने पर बाद में वह सच्चाई बयान करता है–कि यह हमारे हदीस के अनुकूल नहीं है।

इसी प्रकार बाबू खाँ भी दादा खानू पर अपना अधिकार भाव जताते हुए इसे सिर्फ मेवों का ही मानता है। बाबू खाँ दादाखानू की कीकर की कटाई कर लेता है, अपने पिता सलेमी

के विरोध के उपरान्त उसका उत्तर होता है–"बाप ई दादा खानू है तो मेवन् को फिर चाहे हम अपनी कीकर ए काटें या कुछ भी करें।"[11] पारम्परिक रूप से जो धार्मिक स्थल शांति व सद्भाव के प्रतीक थे, जिन्हें सब समान भाव से पूजते थे, किसी का एकनिष्ठ अधिकार नहीं था उसी पर अब कुछ लोगों का अधिकार भाव सामने आता है जो पारंपरिक मान्यताओं के टूटने का संकेत है।

अपने पुत्र की शादी में बाबू खाँ बात-बात में 'शरीयत' और 'हदीस' का हवाला देकर परंपरा भंजक के रूप में सामने आता है। सर्वप्रथम वह गौत्र को दरकिनार कर अपने ही साले की लड़की से अपने पुत्र का विवाह तय करता है। पहली बार मेवात में कोई दुलहन बुर्का पहनकर ससुराल आती है। "सलेमी अपने पोते असलम को बिहा लिया। अनेक नए-पुराने रीति-रिवाजों को लांघता हुआ चुपचाप सम्पन्न हो गया यह विवाह, लेकिन इसकी अंतिम यात्रा के दौरान मारुति से बुर्के में लिपटी हुई उसकी नई-नवेली नौसी ठीक बयाने के सामने जब उतरी, तो पूरे चौधरी मौहल्ले में एक बार फिर कौतुक पूरी ताकत के साथ दौड़ने लगा। यह पहला मौका है जब कोई नौसी इस मोहल्ले में बुर्के में आई है।"[12]

पूरे मेवात में इस बात से खलबली मच जाती है। सलेमी मारे शर्म के घर से बाहर निकलना छोड़ देता है, लोगों के प्रश्नों का उसके पास कोई जवाब नहीं होता। बाबू खाँ की पत्नी चाक पूजन की रस्म की बात करती है तो वह साफ कहता है कि, ".... अरे, मेवन, में अब कौन पुजवाए है चाक-वाक....पाँच-सात घड़िया-मटका वैसेई लिअइयो....और फिर ये सब तो हिंदून का चोचला हैं, हमारा हदीस में कहानू लिक्खी है के मुसलमान का बालकानू का बिहा में चाक पुजवायो जाए...तैने सुनी ना ही के तेरा भाई ने बिहा भिजवाते बखत मनीत नाई सू साफ-साफ कहवा दी ही के बिहा सरीअल और हदीस के बीच होणो चाहिए...।"[13] बाबू खाँ न केवल प्राचीन साझी परंपराओं को तोड़ता है बल्कि अपने आपको मेव से अधिक मुसलमान के करीब पाता है।

पारंपरिक रूप से जिस दादाखानू और पंचपीर को हिंदू और मेव दोनों पूजते आए हैं, धार्मिक कट्टरवाद के चलते वह सिर्फ मेवों का बनकर रह जाता है। इसी प्रकार सन् 1960 तक भगवान जगन्नाथ जी के मेले में मेव भाई टामक, अलगोजा गाते-बजाते हुए सिस्सा लेते थे लेकिन अब उन्हें इस मेले में नहीं देखा जाता। सामाजिक जीवन में ये बदलाव अनायास ही नहीं आया है। इस तरह के अनेक लक्षण अब मेवात में खुलेआम दिखाई देने लगे

हैं–"पहले मेवों में शादी मिश्रजी और निकाह मौलवी कराते रहे हैं किन्तु अब दिन में निकाह मौलवी साहब ही कराते हैं। पहले मेवों की शादी की रस्में रात्रि में पूरी की जाती थीं, किन्तु अब धार्मिक प्रभाव के कारण मेवों में शादी दिन में ही होती है और शादी में मिश्रजी की भूमिका खत्म हो गई है। ये साक्षी संस्कृति के टूटते बंधन हैं।"[14] धीरे-धीरे मेव अब शंकर, मंगली, शेरसिंह, जयसिंह, रणधीर से दूसरी पीढ़ी में रशीद छुट्टन, अयूब खां होकर अब तीसरी पीढ़ी में इस्माइल खां, इजराइल खां सद्दाम हुसैन बनकर पूर्णरूपेण मुस्लिम हो गए हैं। अब ये पांच पहर के नमाजी, तबलीगी जमात में चालीस दिन या चार महीने के लिए जाते हैं। मेव कुछ वर्ष पूर्व तक अपने को चन्द्रवंशी एवं सूर्यवंशी मानते रहे हैं किन्तु अब वे मुस्लिम होकर हाजी बन गए हैं। इन कारणों के चलते परंपराओं में बदलाव आना स्वाभाविक है।

परंपराओं में बदलाव को देखकर कट्टरपंथियों के हौंसले बुलंद हैं। दोनों धर्मों के कट्टरपंथी धार्मिक संगठन अपनी-अपनी गतिविधियां तेज किये हुए हैं। '*काला पहाड़*' के अभयचन्द आर्य कहते हैं कि–"हम आज ही दिल्ली होकर आए हैं...अपनी विश्व हिन्दू परिषद् के लोगों ने पूरी गारंटी दी है कि मेवात के हिन्दुओं की रक्षा करना उनका काम है. ...पूरी परिषद् हमारे साथ है।"[15] यह किसी से छुपा नहीं है कि ये संगठन मेवात में किस प्रकार की गतिविधियाँ चला रहे हैं। स्वामी रूपानंद सरस्वती आर्य समाज मंदिर के महंत हैं, वे अपने आपको स्वामी दयानंद सरस्वती का अवतार बताते हैं। ये भारत विभाजन के समय पाकिस्तान से पलायन करने वालों में से हैं। अब ये पूरे मेवात में घूम-घूमकर मेवों के प्रति दुष्प्रचार का कार्य ही करते हैं। मेवात के एक गांव में जाकर हिन्दुओं के बीच स्वामी रूपानंद सरस्वती प्रचार करते हैं कि, "इन सुसरे कट्टुओं के खातिर जब अलग से पाकिस्तान बणवा दिया तो फिर ये इस मुलक में क्योंकर पड़े हैं...काफिरों का मुलक तो पाकस्तान है....इन बाबर की ओलादों का तो अड़े ते भागणा जरूरी है, तभी इस मुलक में सुख-समृद्धि आएगी....तभी तो हिन्दू राष्ट्र बन सकेगा और जबहिं इस मुलक पे आर्य पुत्तर राज कर सकेंगे।"[16] वास्तव में रूपानंद सरस्वती जैसे लोगों ने साधु-संतों का चोला पहनकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच दरार पैदा की है और दोनों सम्प्रदायों को भड़काने का ही कार्य किया है। इस तरह की भाषा साझी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए प्रयाप्त है।

हमारी मानसिकता इस तरह की क्यों बनी है कि समाज का बहुसंख्यक तबका धार्मिक

संकीर्णता व जड़ता में फंसा पड़ा है। इस पर गहराई से विचार करते हैं तो पता चलता है कि धार्मिक संकीर्णता और जड़ता का एक कारण हमारी शिक्षा व्यवस्था भी है। कुछ ऐसी शिक्षण संस्थाएं है जो बचपन से ही बालकों के मन में संकीर्णता भर देती हैं। उदाहरण के लिए इस्लामी मदरसों और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा चालित 'शिशु मंदिरों' को लिया जा सकता है। शिक्षा के शुद्धीकरण की मुहिम में एक संस्था 'बरुआ रहमनी एजुकेशन सोसायटी' (बी आर ई एस) भी है। 'बी आर ई एस' का पाठ्यक्रम लगभग पूरी तरह साम्प्रदायिक है जो सरकारी मदरसा व्यवस्था के धर्म निरपेक्ष आदर्शों का उल्लंघन करता है। बी आर ई एस के अध्यक्ष शेखऐनुल बारी कहते हैं—"सरकारी मदरसों में हमारे बच्चों की इस्लाम के प्रति जागरूकता कुंद हो जाती है।"[17] देश भर में फैले 'सरस्वती शिशु मंदिर' भी इसी प्रकार की संस्था है जो धार्मिक संकीर्णता का पाठ पढ़ाती है। मोरवाल जी ने *'काला पहाड़'* में इस बात की तरफ इशारा किया है कि किस प्रकार ये संस्थाएं चंदा बटोरकर धार्मिक शिक्षण संस्थाओं का निर्माण करती हैं, जिनका बुनियादी चरित्र धार्मिक सद्भाव के बजाय धार्मिक कट्टरता पर टिका होता है।

अब हम मेवात की लोकवार्ताएं, कहावतें, लोक गीत, लोक-साहित्य, विवाह-शादी, मेले, खेल-कूद आदि के माध्यम से यहां की परंपराओं के स्वरूप को देखने का प्रयास करेंगे।

विवाह :-

मेव समाज में रिश्ते अपने गोत्र बचाकर करने की परंपरा रही है। यदि किसी गोत्र में लड़का ब्याहा गया तो उस गौत्र में लड़की नहीं दी जाती। अगर भूलवश ऐसा हो भी जाय तो बिरादरी में हंगामा मच जाता है तथा अक्सर ऐसे रिश्ते तोड़ दिये जाते हैं। कई बार मामला इतना तूल पकड़ लेता है कि गोत्रों के बीच लड़ाई-झगड़े भी हो जाते हैं। मेवों में किसी भी स्थिति में अपने गोत्र या अपने ही गांव में रिश्ते नहीं किये जाते। गोत्र बचाकर रिश्ता करना यद्यपि इस्लामिक परंपरा नहीं है, मगर मेव समाज में इसे मान्यता प्राप्त है। मेवों में 12 पाल व 52 गोत्र होते हैं। इसे 'बारह-बावन' भी कहा जाता है।

मेवों में विवाह अक्सर कम उम्र में करने की परंपरा है। यद्यपि शिक्षा के प्रसार के कारण पिछले दस-पन्द्रह सालों में इस स्थिति में काफी सुधार हुआ है, मगर अभी भी बाल-विवाह काफी संख्या में होते हैं।

विवाह में मंगनी से लेकर विदाई तक की सभी रस्में इस्लामिक परंपरा से हटकर हिन्दू

परंपरानुसार ही हैं। विवाह पूर्व दूल्हा व दुल्हन के 'बनवारे' निकाले जाते हैं। चार सुहागन औरतें दूल्हा और दुल्हन को 'उबटन' लगाती हैं। उसे स्नान करवाती हैं तथा उसे अच्छा खाना खिलाया जाता है। इस अवसर पर औरतें दूल्हा व दुल्हन के घर इकट्ठा होकर आधी रात तक गाना-नाचना करती हैं।

शादी से पूर्व वर तथा वधू पक्ष की औरतें 'चाक' या 'कुँआ' पूजती हैं। इस अवसर पर औरतें वर या वधु के घर से गाती हुई कुम्हार के घर जाती हैं तथा चाक पर धागा बांधती हैं, चाक पर स्वास्तिक का निशान बनाती हैं। इसके बदले कुम्हार को कुछ अनाज देकर मिट्टी के नये बर्तन लेकर औरतें कुए की तरफ गीत गाती हुई जाती हैं और नये बर्तनों में पानी भर कर घर लाती हैं।

विवाह की पूर्व संध्या पर वर या वधु के मामा 'भात' भरते हैं। विवाह की तय तारीख से दस-पन्द्रह दिन पहले वर तथा वधु दोनों ही पक्षों की माताएं गुड़ लेकर अपने-अपने मायके में विवाह का निमंत्रण देने जाती हैं। इस प्रथा को 'भात नोतना' कहा जाता है। यह प्रथा 'इस्लामिक कल्चर' में नहीं है। इस अवसर पर बहन गाती हुई भैया से अच्छा भात करने की विनती करती हैं। यथा :–

'बीरा अच्छो भरयो भात, बाहण टोटा में।।
थाली में एक हजार, मुहुर लोटा में।।'"[18]

लड़की की शादी में दुल्हन को विदा करने से पहले, उसकी फूफियां रथ, बहली या कार को आगे से घेर कर खड़ी हो जाती हैं जिसे 'जूड़ा घिराई' कहा जाता है। वर पक्ष के लोग इन्हें दान में नकद रुपये देते हैं तथा इसके पश्चात् दुल्हन की सहेलियां गाना गाती हुई उसे विदा कर देती हैं। इस प्रकार दुल्हन एक अजनबी के साथ, अन्जान गांव, घर व परिवार में शामिल होने के लिए चली जाती है।

घर पहुँचने पर दूल्हे-दुल्हन का स्वागत दूल्हे की बहन घर के दरवाजे पर खड़ी होकर करती है। इसे 'बायणा' घिराई कहा जाता है। दूल्हा इन्हें भी नकद दान देकर दुल्हन को गृह-प्रवेश करवाता है। अब दूल्हे पक्ष की औरतें गीत गाती हुई दुल्हन का स्वागत करती हैं। उसके पैरों में पानी डालती हैं तथा उसके सिर पर पानी का लोटा जिसमें पीपल के पत्ते रखे होते हैं, रखकर गीत गाती हुई घर के अंदर ले जाती हैं।

अगले दिन 'मुँह दिखलाई' की रश्म होती है। गाँव की औरतें मुँह देखकर उसे नकद

रुपये दान देती हैं। दूल्हे की मां बिरादरी की औरतों को दावत में घी-बूरा (शक्कर) के साथ चावल खिलाती है।

मेले व उर्स :-

मेवात की संस्कृति उत्सवधर्मी संस्कृति है। यहां के जीवन में हमेशा ताजगी रहती है। इस ताजगी का एक कारण यहां लगने वाले उर्स और मेले भी हैं। इन मेलों में स्त्री एवं पुरुष सभी भाग लेते हैं। मेलों में समान रूप से हिंदू एवं मेव मिलकर भाग लेते हैं। फिरोजपुर का रावण, आल्दूका की बूढ़ी तीज, होडल की सती, नई की नौंमी, हथीन की गूदड़ी तथा अलवर के ताजिये में सभी लोग जाति-धर्म के भेदभाव को भुलाकर बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते हैं।

यहां माहौल हमेशा खुशनुमा बना रहता है। मेवाती लोग अपनी पारंपरिक वेश-भूषा में यहां सपरिवार आते हैं। मेलों में मिठाइयों और खिलौनों के बाजार सजते हैं तथा कई प्रकार के खेलों का आयोजन किया जाता है। ताजिये में नौजवान पट्टेबाजी का शानदार प्रदर्शन करते हैं, तो तीज, गूदड़ी आदि में दंगलों का आयोजन किया जाता है। ताजियों में लड़कियां 'हबदा' देते हुए गीत गाती हैं तो तीजों में पेड़ों पर झूले पड़ जाते हैं।

मेवात अनेक सूफी संतों की कर्मभूमि भी रहा है इन सूफी सन्तों में कुछ बाहर से आये हुए थे तो कुछ मेवात के मेव भी थे। जगह-जगह इनकी दरगाहें, मजारें बनी हुई हैं। इन मजारों को आज भी मेवाती समान श्रद्धा भाव से पूजते हैं। इन मजारों पर मेले भी लगते हैं, सभी लोग समान रूप से इसमें भाग लेते हैं। इनमें प्रमुख हैं—जाहर देव का मेला (किशनगढ़) चुहूड़ सिद्ध का मेला (अलवर के निकट पहाड़ पर) अल्लाह का मेला, शाह चोखा का मेला, संत लाल दास (धौली दूब) का मेला आदि काफी प्रसिद्ध हैं।

इनके अलावा मेवात में होली, दीवाली तथा दशहरा भी सभी लोग मिलकर मनाते आये हैं। लेकिन धर्मांध राजनीति के चलते अब स्थिति में परिवर्तन आने लगा है। कुछ कट्टरपंथी लोग इन पर्व और त्यौहारों को धार्मिक आधार पर बांट कर देखने लगे हैं। '*काला पहाड़*' में *भगवान दास मोरवाल* ने इसका विस्तार से वर्णन किया है कि किस तरह से मेव जो दिवाली, होली सभी में शामिल होते थे, अब इनसे किनारा कर रहे हैं। सुभान खाँ एक ऐसा ही चरित्र है जो दीवाली के दीए लेने से महज इस कारण इन्कार कर देता है कि उनके कुरआन और हदीस में तो दीवाली की चर्चा ही नहीं है।

लोक वार्ताएं :–

मेवात का बात साहित्य काफी समृद्ध है। दोहों के माध्यम से 'बात' कहना मेवात की प्राचीन परंपरा रही है। वीर, रस, शृंगार रस तथा गंभीर सोच-विचार की बातें मेवाती लोक साहित्य में प्रचलित हैं। 'पूर' (अलाव) के चारों और बैठकर, खलिहान या घर में, रात को सोने से पहले लोग एक साथ बैठकर इस तरह की कहानियां कहते देखे जा सकते हैं। सैकड़ों 'मेवाती बातें' (कहानियां), हजारों दोहे, कहावतें, पहेलियां, मेवाती लोकगीत आदि मेवाती लोगों, विशेषकर मीरासियों, नाइयों तथा नटों को जबानी याद हैं, जिनका प्रदर्शन वे शादी-विवाह, मेलों आदि अवसरों पर करते हैं।

मेवाती 'बात' साहित्य में दो प्रकार की गाथाएं (बातें) प्रचलित हैं। एक वे बातें जिन्हें आम आदमी अलाव के चारों तरफ बैठे लोगों को सुनाते हैं या दादी-नानी बच्चों को बिस्तर पर लेटकर सुनाती हैं। दूसरी प्रकार की वे बातें हैं जिन्हें पारम्परिक कलाकार मीरासी, भाट, जोगी अथवा नट मेवों की महफिलों या शादी-विवाह के अवसर पर ओजपूर्ण वाणी में सुनाते हैं। इन लोगों की आजीविका का साधन भी ये कथाएं ही होती हैं। इस तरह के दल के दल जो 'बात' सुनाकर आजीविका कमाते हैं, मेवात में बहुत मिल जाते हैं। इसमें बात कहने वाले की शैली, अन्दाज तथा अभिनय लाजवाब होता है। '*काला पहाड़*' का नायक सलेमी अपनी शादी के अवसर पर आयोजित कार्यक्रम में 'ससि बदनी मीणी' और दरियाखाँ मेव', 'पंडून का कड़ा' आदि किस्सों को याद करके रोमांचित हो उठता है। शादी में खाना-खाने के बाद बारात थड़ी (जनवासा) पर पहुँचती है, तब हमीद मीरासी से लोग 'बात' करने के लिए आग्रह करते हैं। 'हारमोनियम के सुरों का मिलान करने के बाद हमीद बोला, "हां तो जिजमान, बताओ कौण-सी बात सुरू करूँ-दरयाव खाँ मेव-ससिबदनी मीणी की, मेवखाँ घुड़चढ़ी थी, चूहड़ासिद्ध की, घोसड़ा की या फिर बबराबाण की बात।"[19] इस प्रकार मिरासी बात कहना शुरू करता है और बाराती बड़े ही चाव से उसकी कथा सुनते-सुनते रात काट देते हैं।

बात कहने वाला मिरासी कहानी के सभी पात्रों का स्वयं अभिनय करता है। एक ही आदमी बहादुर, कायर, प्रेमी-प्रेमिका, कृषक, बणिया, पशु-पक्षी तथा भूत और राक्षस आदि का पार्ट बड़ी ही सफलता के साथ करता है और देखते ही देखते सारा वातावरण रोमांचित हो उठता है। श्रोतागण चलचित्र की भाँति सभी घटनाओं को अपनी आँखों के सामने घटता हुआ अनुभव करते हैं।

एक ओर बात कहने वाला अपने व्यक्तित्व, शैली एवं अनुभव से बात को दिलचस्प एवं प्रभावी बनाता है, वहीं दूसरी ओर हुन्कार भरने वाला कहानी को गति और उत्साह प्रदान करता है। इसीलिए कहा भी जाता है, 'बात में हुन्कारों, फौज में नगारों।''[20]

मनुष्य के अलावा पशु-पक्षी, भूत-प्रेत, राक्षस-दानव, जिन-परी आदि पर आधारित बातों का एक विशाल भण्डार मेवाती 'बात' साहित्य में पाया जाता है। मेवात के ग्राम्य जीवन से उठकर, राजा-महराजाओं तथा बादशाहों के महलों तक, आकाश से पाताल तक कलाकारों की कल्पनाओं ने मेवाती 'बात' साहित्य को इतना दिलचस्प एवं मनोरंजक बना दिया है कि श्रोता मन्त्र मुग्ध हो जाते हैं।

मेवाती बात साहित्य में जनकवि *सादल्लाह* की प्रसिद्ध रचना 'पण्डून का कड़ा' का प्रमुख स्थान है। माना जाता है कि लगभग 1730 ई. में यह रचना पूरी हुई। सादल्ला के शब्दों में–

'सत्रह सौ सत्तासिसयां, बरस गया हां बीत।
जाणे पण्डू काल का, जिनकी जगत करे परतीत।।'[21]

जनकवि सादल्ला द्वारा रचित यह रचना महाभारत का मेवाती अनुवाद है। यह माना जाता है इसका अधिकांश भाग सादल्ला ने रचना तथा इसे पूरा किया नबी खां ने। 'पंडून का कड़ा' की रचना के अलावा सादल्ला के स्वतंत्र दोहे भी बहुत मिल जाते हैं। जैसे–

'कागा कसको धन हड़े, कोयल कसकू देय।
बोली में अमरत बसे, जासू जग अपणो कर लेय।।'[22]

'पंडून का कड़ा' एक वीर रस प्रधान रचना है, जिसमें युद्ध दृश्यों का बड़ा खूबसूरत वर्णन किया गया है। साथ ही नीति प्रधान दोहों का भी शानदार मिश्रण देखने को मिलता है। कीचक और भीम की लड़ाई का वर्णन कुछ इस प्रकार है–

'मल्लह लड़ां भुजबल, सबल बल रैन अन्धेरी।
सौ-सौ हाथी बल, महाबल दो हुन्कारी।।
चकर डण्ड भुज डण्ड, पखण्डन देह फिरावां।
लात, घमून्का, घूंस, सीस सू सीस भिड़ावां।।'[23]

मेवाती साहित्य में दूसरी प्रसिद्ध 'बात' है, 'पांच पहाड़ की लड़ाई।' मेवात के वर्तमान गांव गढ़ (भरतपुर) की पहाड़ी के ऊपर एक छोटा-सा किला है, जो इतिहास में गढ़ अजान

के नाम से जाना जाता है। इसी गढ़ अजान पर शाहजहां के शासनकाल के दौरान रायभान नामक मेव सरदार का राज्य था। बादशाह अपना कुछ धन ऊँटों के माध्यम से दिल्ली से आगरा भेज रहा था तभी रायभान व उसके कुछ सैनिकों ने इन ऊँटों को लूट लिया। शाहजहां की चेतावनी के बाद भी इन्होंने धन वापस नहीं लौटाया। अब आक्रमण के अलावा बादशाह के पास कोई चारा न था। फलस्वरूप मेवों व मुगल सेना के मध्य जबरदस्त संघर्ष हुआ। इसी संघर्ष की कथा है 'पांच पहाड़ की बात।'

रायभान और उसके साथी किले में बैठे हैं कि उनका जासूस सूचना देता है–

'मसन्द, मवासी, रायमान, रूड़ा तू सुन लेय।
ऊँट चला अकबराबाद कू, तमणे लिया जां तो लेय।।[24]

फिर रायभान के साथी ऊँटों को लूट लेते हैं। इसकी सूचना बादशाह के दरबार में पहुँचती है तो पूरी राजधानी में खलबली मच जाती है। इस प्रकार से मेव और मुगल सेना का युद्ध होता है।

इसी प्रकार मेवात में 'चन्द्रावल गूजरी की बात' भी काफी लोकप्रिय है जिसे विभिन्न अवसरो पर गा-गा कर सुनाया जाता है। इसमें स्त्री के रूप सौंदर्य का खूबसूरत वर्णन किया गया है। साथ ही शृंगार रस के चित्रण के अलावा ग्रामीण जीवन का सीधा-साधा वर्णन भी कथा को रोचक बना देता है।

इस कथा में चन्द्रावल गूजरी व अन्य गूजरियों के साथ कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। कृष्ण अपने ग्वाल साथियों के साथ चन्द्रावल गूजरी व उसकी सखियों का दही छीनकर खा जाते हैं और मटकियां फोड़ देते हैं। गूजरियां यशोधा माता से कृष्ण की शिकायत करती हैं। यशोधा माता उनकी एक नहीं सुनती उल्टा उन्हें ही डाँटती है और कहती है कि कृष्ण तो भोला-भाला है। इससे गूजरियां क्रोधित होकर कृष्ण को कंस के दरबार में ले जाने की धमकी देती हैं।

शृंगार रस का चित्रण यहां अद्‌भुत है, देखें चन्द्रावल का सौंदर्य :–

'देखो चन्द्रावल को रूप, सखी सब पड़गी कायल।
झांझण-बिछवा पहर, पांव की पहरी पायल।।
अंगूठा में आरसी, सिर पे ओढ़ो दक्खणी चीर।
जैसे शीशी कांच की, वाको ऐसो बणो शरीर।।[20]

यह साहित्य मेवात की बात परंपरा में सदियों से चला आ रहा है अतः इसके रचना काल और लेखक के बारे में कुछ भी कहना बहुत मुश्किल है।

उपरोक्त कथाओं के अलावा एक अन्य प्रसिद्ध बात है 'दरिया खाँ' 'शशि बदनी की बात'। यह बात एक प्रेम कहानी है। बचपन में ही शशिबदनी की शादी दरिया खाँ मेव से हो जाती है। इसमें शृंगार, विरह और वीर रस का अद्‌भुत मिश्रण है।

इसका रचनाकाल सोलहवीं शदी का अन्तिम दशक माना जाता है। वर्तमान कांमा (भरतपुर) के निकट 'डाबक' में मेव सरदार टोडरमल की जागीर थी। टोडरमल की रियासत 'पांच पहाड़' के नाम से प्रसिद्ध थी। टोडरमल के बगल की रियासत का नाम 'पोन्होश' था। इसके सरदार राव बाधा मीणा थे। राव टोडरमल और राव बाधा दोनों दोस्त थे। एक इत्तफाक के तहत राव टोडरमल के घर पुत्र व राव बाधा के घर पुत्री जन्म लेती है। दोनों दोस्त दोस्ती को बच्चों के जन्म के वक्त ही रिश्ते में बदल देने का निश्चय करते हैं।

वायदे के अनुसार बारात आती है लेकिन किसी बात को लेकर कहा सुनी हो जाती है और बारात वापस खाली हाथ लौट जाती है। इधर शशि बदनी व दरिया खां दोनों जवान हो जाते हैं। सावन के महीने में शशिबदनी अपनी सहेलियों के साथ झूला-झूल रही होती है तभी किसी सहेली ने शशिबदनी से उसके प्रेम के बारे में चर्चा शुरू कर दी। फिर क्या था, विरह की ज्वाला भड़कती है, शशि बदनी अपनी माँ से पूछती है—

'सब सातण मेरा सात की, सभी सासरे जांय।

कहा खता हमसू बणी, माता जिक्र हमारो नाय।।'[26]

इस प्रकार शशिबदनी संदेशा पहुँचाती है—दरिया खां के पास। दरिया खां आता है और लंबी लड़ाई के बाद दोनों का मिलन होता है। यह कथा मेवात में बहुत ही चाव से लोग गाते हैं व उतनी ही रुचि से इसे सुना भी जाता है। हमने उपरोक्त कथाओं की चर्चा की है इन सबका मूल स्वर सामासिक है चाहे वह 'पंडून का कड़ा' हो या शशिबदनी मीणी, दरियाखां मेव' का किस्सा। इन कथाओं में कहीं भी किसी भी स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम भेद नजर नहीं आता। मजेदार बात यह है कि पूरा मेवात इन्हें आज भी बड़े ही मनोरम भाव से सुनता है। उपरोक्त कथाओं से स्पष्ट होता है कि मेवात का लोक साहित्य काफी समृद्ध है। इसके अलावा भी बहुत से दोहे व शायरी इधर-उधर बिखरी पड़ी है जिसे संकलित करने का कार्य ना के बराबर हुआ है। इस क्षेत्र में अनिल जोशी व सिद्दीक अहमद 'मेव' ने कुछ कार्य अवश्य किया है लेकिन इनके बावजूद भी अभी बहुत-सा मेवाती साहित्य यत्र-तत्र

बिखरा पड़ा है।

संत लाल दास के साहित्य का भी अभी संग्रहण व प्रकाशन होना बाकी है। संत लालदास की वाणी को लालदासी सम्प्रदाय के लोग गा-गाकर सुनाते हैं। यदि सम्पूर्ण मेवाती साहित्य को एकत्र किया जाये तो निश्चित रूप से यह महत्वपूर्ण कार्य हो। साथ ही मेवात की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को भी जिंदा रखा जा सके और वह हिंदी के पाठकों से रू-ब-रू भी हो सके।

मेवाती कहावतें : –

मेवाती भाषा लोकोक्ति व मुहावरों से लबरेज है। मेवात क्षेत्र का निवासी अपने दैनिक बोलचाल में मुहावरों का बहुत प्रयोग करता है। बहुत-सी मेवाती कहावतें अपने उसी रूप में हिंदी भाषा में भी प्रयोग की जाती हैं। कुछ मेवाती कहावतें ऐसी भी हैं जो सिर्फ मेवाती भाषा में ही प्रयोग की जाती हैं। प्राचीन आर्य क्षत्रिय कहलाने वाले मेवों को अपनी परंपराओं एवं रीति-रिवाजों पर बड़ा गर्व है।

विदेशी आक्रांताओं से लगातार टकराने वाले मेव अपनी भूमि को वीरभूमि कहते हैं। इसलिए नवआगन्तुक का स्वागत 'ई है मेवात, पहले घूंसो, पीछे बात'[27] कहकर करते हैं। शक्ति की उपासना करने वाले मेवाती 'जाकी लाठी वाकी पाटी (जमीन)'[28] में विश्वास करते हैं। वैसे भी मेवों के बारे में मशहूर है, 'मेव मरो जब जाणियो, जब तीजो हो जाय।'[29]

मेव स्वभावत शान्तिप्रिय होते हैं, उनके यहां यह बात आम प्रचलन में है कि 'अलझणा सू सुलझणो'[30] ही बेहतर है। किसी भी प्रकार के अंध विश्वास को न मानना मेवों की विशेषता है, मेव अपने यहां देवता को भी खातिर में नहीं लाते और साफ कह देते हैं कि 'तू देव तो मैं मेव।'[31] वीरता की चर्चा करना उनकी स्वाभावगत विशेषता है। युद्ध में लड़ने को वे जीवन का पुण्य मानते हैं। मेवों की राष्ट्रभक्ति और वीरता की इतिहास में अनेक मिशाल हैं। इसीलिए मेवात में यह कहावत आम है कि–'जो जंग में जाय, वही शूरमां कहाय।'[32]

मेवाती दोहा परंपराः–

मेवात की धरती ने जहाँ शूरवीरों को जन्म दिया है तो वहीं दूसरी ओर वहां अनेक शायर भी जन्में हैं। मेवाती दोहा परंपरा जितनी विशाल है उतनी ही प्राचीन भी। दोहे में बात कहना और दोहे में बात का उत्तर देना मेवात की आम परंपरा रही है। मेवाती दोहा

परंपरा में वीर प्रधान, शृंगार प्रधान व नीति प्रधान दोहों का विशाल भण्डार है। कितने ही जाने-अनजाने कवियों ने इस परंपरा रूपी बेल को सींचा है। महाकवि सादल्ला के ज्ञान-ध्यान के दोहे, भीकजी के रूहानी दोहे, नबीखां की होली, मीरखां एवं एवज़ खां के उपदेशपरक दोहे और कोक का तिरिया चरित्र वर्णन न केवल मेवाती लोक साहित्य की अपितु भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं। अब आवश्यकता है इन पर विस्तृत शोध और गंभीर प्रयास की ताकि इन्हें एक साथ प्रकाशित कराकर हिंदी के सामान्य पाठकों तक की दृष्टि में लाया जा सके। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने यद्यपि मेवाती लोक साहित्य को काफी हानि पहुँचाई है।

पूर्व में मेवाती लोक साहित्य की परंपरा इतनी समृद्ध रही है कि मेवाती अपना परिचय भी दोहों के माध्यम से ही देते थे। जैसे–

'धरती थेपी हमन ने, हम धरती का देव।*
सुणियो मिन्तर बावळा, अब जात हमारी मेव।।[33]

मेवात का कबीर कहलाने वाले महाकवि सादल्ला के दोहे भी बहुत प्रसिद्ध हैं–

'बाबल तेरा देस में, एक बेटी एक बैल।
हाथ पकड़के दीनी जामें, परदेसी के गैल।।[34]

स्त्री के प्रति इतनी मार्मिक संवेदना उस दौर के अन्य संत कवियों में नहीं मिलती जितनी सादल्ला के दोहों में मिलती है। उपरोक्त दोहे के माध्यम से सादल्ला ने स्त्री जाति के साथ हो रहे पशुतुल्य व्यवहार के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। इसी प्रकार सादल्ला के अन्य दोहे देखें–

'कागा कोयल एक सा, बैठा एक ही डाल।
बोली में ही परखले, ई कोयल ई काग।।[35]

स्पष्ट है कि उपरोक्त दोहे के माध्यम से कवि ने वाणी के महत्व को स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार सादल्ला के कुछ अन्य दोहे भी महत्वपूर्ण हैं–

'खेत गयो, वाय जाण जहां वे निपजे गोभी।
राज गयो, वाय जाण, जहां का राजा लोभी।
'पेड़ गयो वाय जाण, जहां बुगला का बसणा।
गांव गयो वाय जाण, जहां का मुकदम हसणा।।[36]

---

* *थेपी - बनाई*

सादल्ला के अलावा भीकजी (सूफी), दानशाह, मीरखां, नत्थु, खक्के, ऐवज़ आदि कवियों ने मेवात की शान बढ़ाई है। बहुत से दोहे मौखिक परंपरा में इस प्रकार के भी मिलते हैं जिनके रचनाकारों के बारे में कोई निश्चित मत नहीं है। मेवाती कवियों ने गृहस्थ-जीवन को उत्तम बताया और पर स्त्री गमन की आलोचना की है–

'पर नारी, पेनी छुरी, तीन ठौर सू खाय।
धन हड़े, जोबन घटे, लाज कुटम की जाय।।'
'पर नारी पेनी छुरी, मती लगाओ अंग।
रावण जैसा खप गया, पर नारी के संग।।[37]

इसी प्रकार नीतिपरक उपदेशात्मक दोहे भी महत्वपूर्ण हैं–

'कल्लर खेत, कुसूल हळ, घर कळिहारी नारी।
मेला कपड़ा मर्द का, हां ये नरक निशानी चार।।[38]

कृषि प्रधान मेवाती संस्कृति में खेत व हल का आना स्वाभाविक है।

मेवाती लोक गीत : –

मेवात में लोक गीतों की लंबी परंपरा है। यही लोक गीत मेवात की सांस्कृतिक पहचान भी हैं। पूरा मेवाती साहित्य दुर्भाग्यवश अभी तक लिखित रूप में सामने नहीं आ पाया है। फिर भी लोगों की जुबान पर यह जिंदा है, विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले लोक गीतों में इसकी झलक देख सकते हैं। मेवात में रतबाई, बरेहरित, रसिया, बारहमासी, मेवाती होली, बरसी, फुन्दीयां, मुहर्रमी, छूछक, भात, विदाई, फसल बोने व काटने के अवसरों पर भिन्न-भिन्न तरह के गीत गाये जाते हैं।

मेवाती शायरी, मेवाती बात साहित्य, मेवाती लोक कथाएं, मेवाती कहावतें और पहेलियां, मेवाती भाषा एवं मेवाती लोक साहित्य किसी अन्य भाषा के साहित्य के समकक्ष खड़ा होने में समर्थ ही नहीं बल्कि समृद्ध भी है। मगर आज तक इसका संकलन न हो पाना एक दुर्भाग्य ही है। दुर्भाग्य की बात है कि मेवात की नयी पीढ़ी न केवल इस साहित्य के प्रति उदासीन है बल्कि उसे अनपढ़ों एवं गंवारों की भाषा समझती है।

मेवाती संस्कृति अत्यन्त समृद्ध संस्कृति है। यह शहीदों की धरती है। यह वीरता, सामाजिक सद्भाव व धर्म निरपेक्ष मूल्यों के पालन कर्ताओं की संस्कृति है। सन् 1947 ई.

में भी मेवात में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों की कोई खास समस्या नहीं थी। मेव भारत के दूसरे क्षेत्रों में हिन्दु-मुस्लिम झगड़ों के बारे में सुनकर हंसा करते थे।

मेवों की बहुत-सी परंपराएं जैसे चाक पूजन, कुंआ पूजन, कुंआ बनाने से पूर्व भैरों बाबा का निर्माण, शादी में तेल आना, दूल्हा-दुल्हन को उबटन लगाना, अपने घर से ससुराल जाते दूल्हा के ऊपर बहन द्वारा चावल के दाने फेंकना, दुल्हन के पैरों में पानी डालना वा उसके सर पर लौटे में पीपल के पत्ते डालकर गृह-प्रवेश करना, होली गाना आदि गैर-इस्लामिक रीति-रिवाज हैं। यही रीति-रिवाज इन्हें मुसलमानों से अलग मेव पहचान दिलाती हैं। इन्हीं सब बातों के चलते इनकी संस्कृति सामासिक भी है।

मेवात में लगभग हर घटना हर प्रसंग में मेव और हिन्दू दोनों समाज इस कदर संयुक्त और परस्पर सम्बद्ध हैं कि यकायक यह ख्याल ही नहीं आता कि ये दो भिन्न धर्मावलंबी समाज हैं। यहां इस बात का ख्याल नहीं है कि कौन हिन्दू देवता है कौन मुस्लिम, दोनों समुदायों की परंपराओं का यहां अद्‌भुत मिश्रण है। संत लाल दास के मंदिर में जाती अपनी पत्नी बत्तो के समर्थन में तर्क देते हुए उसका पति हीरा कहता है कि—'...या बात सू हमें कहा मतलब के ई हिन्दू हो या मेव। जाकी आसीस लग जाए वही असली देवी-देवता है।''[39]

'*काला पहाड़*' में भी हिंदू-मुस्लिम सभी दादा खानू और पंचपीर के मजारों पर गलेप चढ़ाते हैं। उपन्यास में विस्तार के साथ इसका दृश्यांकन मिलता है। मनीराम तो 'इसे पंचपीर और दादाखानू का ही परताप मानता है कि दो-दो बेटे-बेटियों का बाप होने तक मजाल है बनवारी के पास सिवाय खांसी-जुकाम या ज्यादा से ज्यादा बुखार से बड़ा कोई रोग तो फटका हो।'[40] और, लेखक जो यह कहता है कि—''आज भी लगता है जैसे उनकी आशीषें और दादाखानू दोनों मिलकर मोहल्ले के नाकों पर बैठकर हर तरह के अज़ाब से उनकी रक्षा कर रहे हैं।''[41]

यह केवल धार्मिक सद्‌भाव और सहिष्णुता की मिसाल नहीं है। सद्‌भाव और सहिष्णुता जैसे सरलीकृत प्रत्ययों से इस धार्मिक साझेपन को नहीं समझा जा सकता। 'यह विशाल भारतीय श्रमशील लोक की वह असल धर्म निरपेक्षता है, जो ईश्वर और अल्लाह को सांचों और खांचों में नहीं बंटने देती है।...यह धार्मिक सद्‌भाव और सहिष्णुता का उदाहरण है कि एक समय था जब ताजियों के नीचे से हर वर्ण और जाति के हिंदू-विशेषतः

स्त्रियां स्वयं तथा बच्चों को पूरी श्रद्धा के साथ निकालते थे तथा पीर-फकीरों के नक्कस लेना अनिवार्य समझते थे।"[42] लेकिन धार्मिक कट्टरपन के उभार के चलते ग्रामीण जीवन की सामाजिक संश्लिष्टता में अब अंतर आया है। फिर भी लोक संस्कृति की परंपरा इतनी मजबूत है कि यहां किसी भी तरह के विभेद की कोशिश को स्थायी नहीं बनने देती।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-02, पहला संस्करण 1995, पृष्ठ-39
2. सं. डॉ. मुंशी खाँ, चिराग-ए-मेवात, बखतल की चौकी, अलवर से प्रकाशित, (सैनी प्रिंटिंग प्रेस), नवम्बर-1999, पृष्ठ-20
3. डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा : मेवाती का उद्‌भव और विकास, लोक भाषा प्रकाशन, छोटा बाजार कोटपूतली (राजस्थान), प्रथम संस्करण-1976, पृष्ठ-25
5. सिद्दीक अहमद 'मेव' : मेवात एक खोज, प्रकाशन दोहा तालीम समिति गुड़गांवा, हरियाणा, संस्करण-1997, पृष्ठ-31
6. आशिक बालोत : मेवाती लोक कवि : संवेदना और सृजन, प्रकाशन रचना, 57, नटाणी भवन, चांदपोल बाजार, जयपुर 302001 (राज.) पृष्ठ-7
7. सं. राजेन्द्र यादव : हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, दिसम्बर-1999, पृष्ठ-86
8. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-02, पहला संस्करण-1999, पृष्ठ-58
9. वही, पृष्ठ-79
10. सं. राजेन्द्र यादव : हंस, दिसम्बर 1999, पृष्ठ-86
11. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-58
12. वही, पृष्ठ-368
13. वही, पृष्ठ-358
14. सं. डॉ. मुंशी खाँ : चिराग-ए-मेवात, पृष्ठ-20
15. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-403
16. वही, पृष्ठ-373
17. इंडिया टुडे, 27 जून 2001, "ऐसा इल्म कहां मिलेगा' पृष्ठ-22
18. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-120
19. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-131
20. सिद्दीक अहमद मेव : मेवात एक खोज, पृष्ठ-86
21. सं. अनिल जोशी : 'पंडून कौ कड़ा' कैलास प्रकाशन, महावीर मार्ग, अलवर (राज.) पहला संस्करण, जून 1992
22. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ 273
23. सिद्दीक अहमद मेव : मेवाती संस्कृति : अध्ययन एवं अवलोकन, प्रकाशन दोहा तालीम समिति, गुड़गांव, हरियाणा, संस्करण 1997, पृष्ठ-90

24. वही, पृष्ठ-91

25. वही, पृष्ठ-96

26. सं. अनिल जोशी : मेवाती काव्य (दूहे एवम् लोक गीत), मेवात साहित्य प्रचार संस्थान, अलवर (राज.) प्रथम संस्करण 1996, पृष्ठ-57

27. भगवानदास मोरवाल : 'बाबल तेरा देस में' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02, पहला संस्करण-2004, पृष्ठ-53

28. वही, पृष्ठ-283

29. सिद्दीक अहमद मेव : मेवाती संस्कृति : अध्ययन एवं अवलोकन, पृष्ठ-106

30. वही, पृष्ठ-106

31. वही, पृष्ठ-107

32. वही, पृष्ठ-107

33. वही, पृष्ठ-115

34. भगवानदास मोरवाल : 'बाबल तेरा देस में' पृष्ठ-7

35. सिद्दीक अहमद मेव : मेवाती संस्कृति : अध्ययन एवं अवलोकन, पृष्ठ-117

36. वही, पृष्ठ-117

37. वही, पृष्ठ-121

38. वही, पृष्ठ-122

39. भगवानदास मोरवाल : 'बाबल तेरा देस में' पृष्ठ-79

40. भगवानदास मोरवाल : 'काला पहाड़' पृष्ठ-59

41. वही, पृष्ठ- 60

42. सं. शैलेन्द्र सागर : कथाक्रम (कथा साहित्य, कला एवं संस्कृति की त्रैमासिकी) मुद्रक : प्रकाश पैकेजर्स, 257, गोलागंज, लखनऊ, जनवरी-मार्च 2005, पृष्ठ-46

तृतीय अध्याय

'काला पहाड़' में व्यक्त मेवाती संस्कृति का संघर्ष

'काला पहाड़' में व्यक्त मेवाती संस्कृति का संघर्ष

मेवात राजस्थान, हरियाणा व उत्तर-प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में विस्तृत है। '*काला पहाड़*' इसी क्षेत्र का लोक-आख्यान है। '*काला पहाड़*' में *काला पहाड़* मेवात की लोक संस्कृति, इसके इतिहास, इसकी परंपराओं का दृष्टा बनकर सामने आता है। इसी '*काला पहाड़*' के चारों तरफ मेवात का क्षेत्र फैला हुआ है। *काला पहाड़,* जिसकी तराइयों में विकसित इस संस्कृति के कारण यह क्षेत्र इतना ख्यातनाम हुआ, इसी संस्कृति के विघटन का भी यह दृष्टा बनता है। '*काला पहाड़*' अतीत की स्मृतियों व वर्तमान की उधेड़बुन का साक्षी रहा है और साथ ही भविष्य की आशंका से त्रस्त भी। यह वही संस्कृति है, जिसके नायक हसन खाँ मेवाती ने विदेशी हमलावर बाबर को ललकारा था। मध्यकाल में हसन खाँ मेवाती एक खांटी हिन्दुस्तानी रहा, जिसने हम-मजहबी बाबर के विरुद्ध अपनी ज़मीन के लिए जंग ठानी।

मेवात की संस्कृति हसन खाँ मेवाती जैसे वीरों की संस्कृति है, जो मजहब से ज़्यादा महत्व मातृभूमि को देते हैं। वह बाहर से आए बाबर को राणा साँगा के विरुद्ध युद्ध में सहायता करने से इसी आधार पर मना कर देता है कि राणा साँगा इसी मातृभूमि का सपूत है जबकि बाबर विदेशी आक्रान्ता।

'*काला पहाड़*' इसी सांस्कृतिक परंपरा का साक्षी रहा है और साथ ही वह इस उपन्यास में वर्तमान उधेड़बुन और उस साझी विरासत के सामने आने वाले संघर्षों का भी साक्षी रहा है।

✓'*काला पहाड़*' में लेखक ने मेवात के एक छोटे-से कस्बे नगीना को केन्द्र में रखने के, साथ ही उसके सीमावर्ती छोटे-छोटे गांवों महू, घासेड़ा, नांगल, साँठावाड़ी, गुमट, खोमरी, सरेटा, नौटंकी, करहेड़ा घाघस, मूलथान का भी चित्रण किया है। यहाँ लेखक का मूल उद्देश्य इन गांवों के बहाने एक तरह से भारतीय ग्रामीण समाज के अंतर्संबंधों को रेखांकित करना है। साकरस चौबीसी; जोकि मेवात की सबसे बड़ी पंचायत है, के बहाने उपन्यास पंचायतों

की एक भूमिका को स्पष्ट करता है।

मेवात में अधिकांश आबादी मेव समुदाय की है। इसके अलावा हिन्दू और जैन लोग भी हैं। मेव समुदाय की बहुलता के कारण ही यह क्षेत्र मेवात कहलाता है। मेव अपने आप में विशिष्ट हैं। मेव किसी समय हिन्दू थे लेकिन कालान्तर में इन्होंने धर्म परिवर्तन किया और इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया लेकिन धर्मान्तरण के बाद भी ये लोग अपनी परंपराओं को नहीं भूल पाए। इसी का परिणाम था कि यहाँ साझी संस्कृति फली-फूली। धर्म इनकी संस्कृति की प्राचीनता व इसके साझेपन को मिटा नहीं पाया। मेव देश के अन्य मुसलमानों से भिन्न हैं। मेव आज भी अपने आपको चन्द्रवंशी और सूरजवंशी राजपूत मानते हैं। इसके बाद ये अपने आपको मुसलमान के बजाय मेव कहना अधिक पसंद करते हैं। मेवों की यह सांस्कृतिक विशिष्टता मेवात क्षेत्र की साझी संस्कृति की ही झलक है।

मेवात की इसी साझी संस्कृति का चित्रण भगवान दास मोरवाल ने गहराई के साथ किया है। "लगभग हर घटना, हर प्रसंग व दृश्य में ये दोनों तबके (हिन्दू-मेव) यहां इस कदर संयुक्तता व परस्पर सम्बद्धता के साथ जुड़े हुए हैं कि यकायक यह ख्याल भी नहीं आता कि ये दो भिन्न धर्मावलम्बी समाज हैं।"[1]

वर्तमान समय में इस संस्कृति के सामने टूटन, अविश्वास या शंका ने अपना स्थान बना लिया है। '*काला पहाड़*' इस मेवाती संस्कृति के सामने उत्पन्न ख़तरों का चित्रण ही नहीं करता वरन् उस सांस्कृतिक विघटन के कारकों या तत्वों की पहचान भी करता है। इस सांस्कृतिक विघटन के प्रमुख कारक बाहरी तत्व ही हैं जिन्हें न तो इस संस्कृति से कोई लगाव है न ही इसका ज्ञान। वे अपने क्षुद्र स्वार्थों के चलते इस संस्कृति के लिए ख़तरे उत्पन्न करते हैं। लेखक ने राजनीति, मीडिया व प्रशासन को इन ख़तरों के रूप में सामने रखा है जिनकी प्रेरणा व प्रभाव द्वारा मेवाती संस्कृति में संघर्ष उत्पन्न हो गया।

मेवात की संस्कृति मातृभूमि स्नेह की संस्कृति है। मातृभूमि से प्रेम इस संस्कृति का अंग है। एक आम मेवाती इस मातृभूमि पर समान अधिकार मानता है और परस्पर सहयोग व भाई-चारे से रहता है। उपन्यास के अनुसार–"ई वही मेवात है जाके मेवन्ने सैंतालीस की भग्गी में जिन्ना का बहकावा में न आके पाकस्तान जाणसू साफ मना कर दी ही....।"[2]

नए राष्ट्र के निर्माण के बावजूद पाकिस्तान न जाने का निर्णय मेवों को हसन खाँ मेवाती का सच्चा उत्तराधिकारी बना देता है। मोरवाल जी लिखते हैं–"बाबर के साथ हम

मजहब होने के बावजूद अपनी मातृभूमि की आन के लिए इसी मेवात के रणबांकुरे हसन खाँ मेवाती ने उसे बाहर से आए हमलावर की संज्ञा देते हुए राणा सांगा के खिलाफ युद्ध करने से मना कर दिया था।"[3]

वह धरती उनकी अपनी है। वे उस पर अपना हक़ मानते हैं, इसी कारण उपन्यास का नायक सलेमी कहता है—"वैसे आज ई बात महसूस तो होवे है के अच्छोई रहा जो हम पाकस्तान ना गया....नहीं तो हम भी हून मोहाजिर बण के रहता.... ।"[4]

उपन्यासकार इस संस्कृति में आ रहे विघटन व इसके समक्ष उत्पन्न खतरों का भी चित्रण करता है। जो मेवात अभी तक सबका था अब उस पर कुछ ख़ास लोगों ने अपना अधिकार जताना शुरू कर दिया है। वहीं दूसरी ओर कुछ लोग इसे 'दूसरा पाकिस्तान' तक कहने में भी संकोच नहीं करते।

मेवात से लोग धीरे-धीरे पलायन करके शहरों की तरफ़ जा रहे हैं क्योंकि यहाँ खेती वर्षा के अभाव में नष्ट होती जा रही है। परंपरागत रोजगार के स्रोत भी क्षीण होते जा रहे हैं। पलायन करने वालों में हिन्दू अधिक हैं। कुछ लोग इस पलायन के पीछे हिन्दू-मेव संघर्ष का होना मानते हैं।

सुलेमान और बनवारी आर्थिक कारणों के चलते गाँव छोड़कर चले जाते हैं। लेखक ने दिखाया है कि इस पलायन का मुख्य कारण आर्थिक अधिक है लेकिन प्रमुख कारण यही नहीं है। *वीरेन्द्र यादव* के अनुसार—"किसी इलाके की आर्थिक टूटन वहाँ के सामुदायिक व सांस्कृतिक जीवन को भी तोड़ती है। यही वह ज़मीन है जहाँ सांप्रदायिक तत्वों की खेती फलती-फूलती है।"[5]✓

✓यह अकारण नहीं है कि सलेमी सुलेमान आदि के जाने से इतना व्यग्र नहीं होता जितना बनवारी, छोटे लाल, मनीराम, हरसाय आदि के जाने से होता है। सलेमी के मन में यह संशय अवश्य है कि यह क्षेत्र धीरे-धीरे हिन्दुओं से खाली न हो जाए। वह बार-बार इस अख़बारी ख़बर से भी चिंतित होता है कि—"आने वाले समय में मेवात दूसरा पाकिस्तान बन जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।" दरअसल 'दूसरे पाकिस्तान' से लेखक का आशय उस परिभाषा से है जो तथाकथित राष्ट्रवादियों द्वारा मुसलमानों के बारे में प्रचारित की जाती है।

इस संस्कृति के विघटनकारी तत्वों में बनवारी व छोटका जैसे लोग भी हैं, जो शहरी संस्कृति के प्रभाव में आकर अपना संबंध गांव से तोड़ देना चाहते हैं। ये लोग अपनी जिद

के चलते परिवार को भी गांव से नाता तोड़ने पर मजबूर कर देते हैं। वास्तव में यह जिद भारतीय गांवों की जर्जर होती आर्थिक दशा के कारण है।

मनीराम इस संस्कृति के साझेपन के तर्क को समझता है तथा अपने बेटे से कहता है—"बेटा पुरखान को ठिया कोई ऐसे ही थोड़ों छोड़ों जावे है।"[6] लेकिन बनवारी के लिए इस 'पुरखों के ठीए' का कोई महत्व नहीं है। वह इसे व्यावसायिक अर्थवादी दृष्टि से देखता है—"जब याँ कुछ है ई ना तो हम या पुरखान का ठियाए चाटता फिरें।"[7]

सलेमी व छोटे लाल जैसे पुरानी पीढ़ी के लोग अपने गाँव को भावनात्मक लगाव के चलते नहीं छोड़ना चाहते हैं। इसे सलेमी इस मेवाती दोहे के माध्यम से व्याख्यायित करता है कि, "*परभूम बसणो कठन को, हो जाए अकल बुद्ध सारी, अपणी-अपणी भूम पे पत्थर भी भारी।*"[8] छोटे लाल इसका समर्थन करता है। बनवारी दिल्ली में रहने लग गया है लेकिन वह अब अपने परिवार को भी अपने साथ रखना चाहता है क्योंकि इस क्षेत्र में बढ़ती विघटनकारी शक्तियों के कारण वह विचलित है जबकि सलेमी, नबी खाँ, मनीराम, हरसाय, छोटे लाल आदि में अभी भी एक विश्वास जीवित है। उन्हें अपने साथियों पर विश्वास है इसी कारण वे नगीना को नहीं छोड़ना चाहते। बनवारी यह मानकर चलता है कि एक-न-एक दिन उसका संबंध मेवात से टूटना है इसी कारण वह सलेमी से कहता है—"ताऊ चल छोड़...पर ये कोई छोटी-मोटी तकरार ना है...अरे सोची जाए तो बहोत बड़ी बात है पर जब हमारा नगीना से कोई वास्ता नहीं रहेगा तो फिर इन बातों से क्या फायदा. ..जिस रास्ते जाणा ही नहीं है...उसके कोस गिणने से क्या फायदा।"[9]

गांव में लोगों के बीच चाचा, काका, ताऊ, दादा आदि रिश्ते हैं। हर कोई रिश्ते में कुछ न कुछ है। वास्तव में, ये रिश्ते पारिवारिक न होते हुए पारस्परिक रिश्ते हैं। उपन्यासकार इसी पारस्परिक संबंध भावना का वर्णन करते हुए सलेमी के बचपन के समय को वर्णित करता है—"उसी दादा सुग्गन के पास जिसकी उम्र तो सलेमी के अपने बाप जितनी है लेकिन पता नहीं गाँव के किस नाते और कब से सुग्ग दादा सुग्गन और मंगतू उसके लिए काका मंगतू बना हुआ है।"[10]

लेकिन अब नई पीढ़ी के लिए ये कोई ख़ास मायने नहीं रखते। परस्पर संबंध भावना में अब धीरे-धीरे विघटन आ रहा है और यह विघटन ख़तरनाक हो रहा है—मेवाती संस्कृति के लिए। शहरी संस्कृति से प्रभावित बनवारी का गाँव ग्रामीणों से रिश्ता ख़त्म हो रहा है

लेकिन सलेमी को ये बातें बुरी लगती हैं क्योंकि वह उस संस्कृति का अंग है जो आपसी संबंध भावना में विश्वास रखती है।

उपन्यासकार कहता है—"यही बनवारी जिसने कभी सिर उठाकर बगैर ताऊ के बात नहीं की और जो कभी ऊँची आवाज़ में नहीं बोला वही बनवारी संयम और शालीनता की सारी वर्जनाओं को तोड़ कर इतना उग्र होकर बोलेगा सलेमी ने इससे पहले कभी सोचा ही नहीं। सलेमी को आज पहली बार अपने बाबू खाँ और बनवारी के बीच भेद नजर नहीं आया।"[11]

बाबू खाँ और बनवारी दोनों नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं। बनवारी का एक हद तक आपसी सौहार्द में अभी भी विश्वास है लेकिन बाबू खाँ के लिए साझापन का तर्क बेमानी है। उपन्यासकार बताना चाहता है कि किस तरह हमारी नई पीढ़ी समुचित शिक्षा के अभाव में अनजाने ही कट्टनपन की तरफ झुक रही है। कुछ चालाक लोग उन्हें मोहरा बनाकर वर्षों की मेल-मिलाप वाली संस्कृति को झटके दे रहे हैं। बाबू खाँ नई पीढ़ी में पनपते कट्टरपन का प्रतिनिधि है। जहाँ बाबू खाँ हाजी असरफ जैसे इस्लामिक कट्टरपंथियों के हाथों खेलता है वहीं बनवारी मेवात में घटनेवाली घटनाओं के चलते आशंकित होता है जो नई पीढ़ी में पनपते अविश्वास का सूचक है इसीलिए वह कहता है—"कल को हमें भी मारा जाएगा....हमारे ही सामने हमारी बहन-बेटियों पर हराम किया जाएगा।....अगर यही हालात रहे तो वह दिन दूर नहीं जब यह मेवात दूसरा पाकिस्तान बन जाएगा। इस इलाके में हिन्दुओं का रहना एकदम मुश्किल है।"[12]

बनवारी में यह आशंका शहर में रहते हुए पैदा हुई है इसीलिए बनवारी का उपरोक्त बातों में सच्चाई नहीं है क्योंकि अभी भी यहाँ दोनों समुदायों के लोग शांति व सहयोग की भावना से रह रहे हैं। हाँ, यह अवश्य है कि उसमें तेजी से अविश्वास की भावना जरूर बढ़ने लगी है। यह भी दिलचस्प तथ्य है कि 'अयोध्या कांड' ने कहाँ तक मार की है। ग्रामीण दूर-दराज की संस्कृति भी इससे प्रभावित हुई है लेकिन यह प्रभाव स्थाई नहीं है क्योंकि यहाँ की परंपराएं इतनी मजबूत हैं कि कुछ समय बाद लोग फिर आपस में मिलकर रहने लगते हैं और आपसी अविश्वास के बादल छंट जाते हैं।

यहाँ की संस्कृति मूलतः कृषक संस्कृति है और कृषक संस्कृति में साझापन एक अनिवार्य विशेषता हुआ करती है। यहाँ किसी न किसी रूप में एक परिवार दूसरे परिवार

से जुड़ा हुआ है। इसी संबंध भावना के चलते गाँव की प्रत्येक बहन-बेटी सबकी बहन-बेटी होती है और उसका सम्मान सभी का सम्मान होता है। बाबू खाँ जैसे लोग इस संस्कृति के लिए ख़तरा बनते हैं। वह गाँव के ही रामचन्दर धोबी की लड़की से छेड़खानी करता है। सलेमी को अपने बेटे की ये शरारतें अपमानित करती हैं। इस घटना के बाद वह घर से निकलना तक बन्द कर देता है। वह किसी से नजर नहीं मिलाता और पंचायत में बाबू खाँ को सरेआम पीटकर रोने लगता है। यह रोना उसका अपने पुत्र-स्नेह के कारण नहीं है वरन यह रोना उस संस्कृति और आत्म-सम्मान का रोना है जो इतने समय से उन्होंने निर्मित की थी।

सलेमी बाबू खाँ को पीटते हुए कहता है—"या बेटीचो ने मैं आज कहीं को ना छोड़ो हूँ....याने जीते जी मेरे ऊपर माटी गेर दी....मनीराम याने जीते जी मेरो नरक कर दियो... .मैं अब कौण सा मुं सूं चलूँ घर...। गाँव की बहू-बेटी ही तो हमारी आबरू है, चाहे ऊ हिन्दून की हो या मेवन् की...बहू बेटी तो सबकी एक सी हैं।"[13]

मेवात की इस साझी संस्कृति जिसका साझापन विविध अवसरों पर प्रकट होता है। सहयोग और सामूहिकता का भाव कृषक संस्कृति का अंग है। गाँव की इज़्ज़त सबकी इज़्ज़त है और यह सबके लिए महत्वपूर्ण है। जब गाँव के 'नाक' की बात आती है तो 'नाक' के धणी केवल मेव नहीं है न ही केवल हिन्दू वरन् सभी सामूहिक रूप से परिस्थिति का मुक़ाबला करते हैं, फिर चाहे वह पतंगबाज़ी में साकरस से नगीना की शर्त हो या गाँव में संकट का कोई अन्य समय-आगजनी या दंगा। सभी जगह पारस्परिक सहयोग की भावना सामने आती है।

इस साझापन के प्रतिनिधि पात्र हैं—सलेमी, मंगतू, नबी खाँ, हरसाय आदि। यह साझापन पतंगबाज़ी के अवसर पर सामने आती है। यहाँ सभी लोग जाति व धर्म को भूलकर खेल में इस कदर रम जाते हैं कि जैसे इनमें किसी प्रकार का भेद ही नहीं हो।

गाँव की 'नाक' का सवाल सबके लिए अहम हो उठता है। मंगतू पतंगबाजी में गाँव की इज़्ज़त बचाता है तो वह गाँव का हीरो बन जाता है। प्रयास सभी का सामूहिक होता है मंगतू इसमें अकेला नहीं है, उसके साथ हैं—सलेमी, जुम्मा, बुग्गल चक्की वाला, पूरन मास्टर आदि। "मंगतू और जुम्मा पतंगों की पन्नियों और खपच्चियों में मैढ़े होते हैं और उधर बड़े स्कूल पर बुग्गल चक्की वाले तथा पूरन मास्टर की देखरेख में रील की सुताई हो रही है।"[14]

"पूरन मास्टर को विशेष रूप से दिल्ली भेजा गया कि वह सदर बाज़ार से जंज़ीर छाप रील और बढ़िया पतंगी कागज लेकर आए। जुम्मा मनिहार ने अपना ताँगा मुफ्त में बड़कली से नगीना के लिए लगा दिया ताकि तीज के दिन लड़ने वाले पेचों के लिए किसी ज़रूरी काम से जिसे भी जाना हो वह मजे से आए जाए।"[15]

इतना ही नहीं, "बुग्गल चक्की वाला, अतरखाँ और लल्लू चमार को यह काम सौंपा गया कि वे समय-समय पर गुप्त रूप से साकरस जाकर पता लगाएं कि नगीना की अपेक्षा साकरस की कैसी तैयारी चल रही है और किस तरह की रणनीति वे अपनाने जा रहे हैं।"[16]

लाला नौबतराय छुआछूत में विश्वास करता है लेकिन जिस दिन पतंगबाज़ी होनी थी उस दिन उसकी हवेली की छत पर सब लोग आ-जा रहे हैं। गाँव की इज़्ज़त व सामूहिकता की भावना के चलते ही लाला नौबतराय 'इतना बड़ा त्याग' सहन कर पाते हैं।

साझेपन की यह संस्कृति करवट ले रही है। यहाँ अलगाव की राजनीति सक्रिय हो रही है। सुमान खाँ, बाबू खाँ, हाजी अशरफ, बनवारी, छोटका आदि इसी अलगाव का आधार बनते हैं। दूसरी ओर अभयचन्द आर्य, ज्ञानचन्द जैन, विसम्भर सन्नार्थी व स्वामी रूपानंद सरस्वती हैं जो 'हिन्दू रास्टर' और 'आर्य पुत्तर' की विचारधारा से आबद्ध होकर मानते हैं कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का ही राष्ट्र है और मेवों को पाकिस्तान चले जाना चाहिए। ये मेवों को मेवों के रूप में नहीं 'मुसलमान' के रूप में देखते हैं। सांप्रदायिक तनाव के चलते दोनों पक्षों के कुछ कट्टरपंथी गांधी जी की अलग-अलग कारणों से निंदा करते हैं। हिन्दुओं को इस बात का गुस्सा है कि गाँधी जी ने क्यों इनको यहाँ रोका जबकि मेव इस बात को लेकर दुःखी है कि क्यों नहीं गाँधी ने हमें पाकिस्तान जाने दिया? यह कट्टरता धीरे-धीरे ग्राम पंचायतों में प्रायः देखने को मिल जाती है। उदाहरण स्वरूप, सरपंची के चुनाव में सारा गाँव दो घड़ों (हिस्सों) में बंट जाता है और चुनाव का आधार धर्म बन जाता है। सामूहिकता और सहयोग की संस्कृति पर संकट तब आता है जब राजनीति सक्रिय होती है।

बाबू खाँ सरपंची के चुनाव में हाजी अशरफ का समर्थन केवल मज़हब की समानता के चलते करता है। उसके सामने अन्य सभी योग्यताएं तुच्छ हैं। वह अपने पिता सलेमी द्वारा हाजी अशरफ को वोट देने से मना करने पर कहता है—"कहा कमी है हाजी अशरफ में अरे मक्का सू हिजरात करके ऊ आयो है....पाँचू बखत निवाज ऊ पढ़े है...और दो-चार हजार की जरूरत पड़ जाए तो उन्ने भी फट्ट निकाल के दे देवे है।"[17]

सलेमी हाजी अशरफ की असलियत जानता है इसी के चलते उसे वोट देने से मना भी कर देता है। इस पर अपने ही बेटे बाबू खाँ द्वारा सलेमी को नास्तिक अर्थात् काफ़िर की उपाधि सहज ही प्रदान कर दी जाती है। बाबू खाँ सलेमी को अपनी क़ौम के विकास में बाधक मानता है—"तू कोई लू देएगो हाजी अशरफ लू बोट...वा माणक बणिया लू देएगो जो तेरो गोती भाई है.....अरे अरे जैसा आदमीन् की वजे सू इन काफरन न हमारो जीणों हराम कर राखा है। ...हाजी अशरफ जैसो भी है....है तो अपणी बिरादरी अपनी कौम को. ..अरे काल कला कू अपणी बिरादरी ही काम आएगी....आनजात कोई काई के कनै ना फटकेगो....बाप तेरो जैसा आदमी-ने ई हमारी कौम को बेड़ा गरक करवा राखो है।"[18]

दूसरी तरफ़ अभयचन्द आर्य, बिसंभर सन्नार्थी गंगाजल की कसम खिलाते हैं कि वोट मानक बणिये को ही दिया जाएगा और जो नहीं देगा वह हिन्दुस्तान और हिन्दुओं का दुश्मन होगा।'[19] ज्ञातव्य है कि ये कट्टरतावादी सवर्णों को मेवों के प्रति उग्र बनाने का प्रयास करते हैं।

मेवात की साझी संस्कृति को शादी-विवाह, व्रत-त्यौहार, पुत्र जन्म आदि अनेक अवसरों पर भी देखा जा सकता है। शादी के समय सावा लेने के लेकर शादी के दिन तक के समस्त क्रिया-कलापों में साझेपन के दर्शन होते हैं। मेवात की परंपरा एवं संस्कृति में कुछ तत्व ऐसे घुल-मिल गए हैं कि उन्हें किसी विशेष परंपरा या धर्म का बताकर अलग नहीं कर सकते। कौन सी परंपरा या रीति हिन्दू धर्म की है और कौन इस्लाम की, यह भेद यहाँ बेमानी हो जाता है।

वास्तव में मेवों के शादी के संस्कार उनकी परंपरा के हिस्सा हैं। वे हदीस व शरीअत की बजाय परंपरा को महत्व देते हैं। जो आज भी स्वयं को पहले चन्द्रवंशी और सूरजवंशी क्षत्रिय मानते हैं। बाद में मेव और उसके बाद मुस्लिम। करीम हुसैन कहता है—"अरे हम्मी तो तिहारी तरे चन्द्रबंशी और सूरजबंसी हैं....हमारी नसन् में भी तो राजपूती खून बहे है. ..हम क्षत्री पहले हैं और मेव पीछे हैं।"[20] प्रो. उस्मानी भी इसी का जिक्र करते हुए कहते हैं—"आपने देखा नहीं चैयरमैन साहब ने आपको मेव बाद में पहले क्षत्री बताया है.... मुसलमान लफ़्ज का इस्तेमाल एक भी मेव लीडर ने मजाल है गलती से किया हो।"[21] शादी के समय चाक पूजने की रस्म यहाँ मेव परिवारों में भी होती है। चाक पूजने के लिए औरतें कुम्हार के घर जाती हैं। वहाँ से घड़े और दीए लाए जाते हैं। जो शादी में काम में लिए जाते

हैं। शादी के समय चाक पूजने बनवारे, आरती आदि मेवात के बाहर मुस्लिम परिवारों में नहीं होते, यह परंपरा मूलतः हिन्दू घरों की है जिसे मेवात में सभी अपनाते हैं। चाक पूजन के अवसर पर जो गीत औरतें गाती हैं वे भी अपने आप में विशिष्ट हैं।

इसी प्रकार भात के अवसर पर, बनवारे के समय गाए जाने वाले गीत इसी परंपरा का हिस्सा है। बनवारे के बाद की आरती का चित्रण उपन्यासकार ने किया है। ''रोबड़ा की माँ सलेमी की बड़ी बहन को थाली में दीया जलाकर देते हुए बोली, 'रहमती, ले, घर जाके अपने बीरा को आरतो उतार दी जो...।''[22]

बारात जाने के बाद स्त्रियों की नाटक परंपरा और वधु आगमन के समय की मुँह दिखाई, साथ ही शादी के सावे लेने सभी में समुदाय के लोग हिस्सा लेते हैं, उनमें हिन्दू-मेव का भेद मिट जाता है।

ये परंपरा मेवों की अपनी परंपरा हैं जिनका वर्णन हदीस और शरीयत में नहीं है। इसी कारण बाबू खाँ जब अपने बेटे की शादी करता है तब हदीस और शरीयत का हवाला देकर इन्हें बंद करने को कहता है। मेवों में शरीयत और हदीस की अपेक्षा हिन्दू परंपराओं के अनुरूप जो रीति पाई जाती है उसका वर्णन प्रो. उस्मानी करते हैं–''इनके यहाँ आज भी रिश्ता करते वक्त हिन्दुओं की तरह माँ, दादी, नानी व खुद का गोत्र बचाया जाता है.... हमारी तरह सिर्फ़ माँ का दूध नहीं बचाया जाता। आज भी इनके रस्मो-रिवाज हिन्दुओं के काफी नजदीक हैं।''[23]

बाबू खाँ यहाँ प्रथम परंपरा भंजक के रूप में सामने आता है। वह अपने पुत्र की शादी हदीस व शरीयत के अनुसार करने की बात करता है और अपने बेटे के शादी अपने साले की लड़की से तय कर देता है। यह घटना मेवात में तेजी से होते बदलाव के रूप में आती है। सलेमी इसे स्वीकार नहीं कर पाता और अपनी परंपरा का हवाला देकर मना करता है कि आज तक मेवों में ऐसा नहीं हुआ है। बाबू खाँ का जवाब सलेमी को संशय से भर देता है। बाबू खाँ कहता है–''हिन्दून में ना हो तौ होएगो–लगी–हमारा हदीस में तो जाइज है–हमारा दीन में माँ का खून ए छोड़ के सब रिश्ता जाइज है।''[24]

यह परंपरा के टूटने और बढ़ती धार्मिक कट्टरता की प्रारंभिक घटना है। मनीराम कहता है–''वा भाई सलेमी कहां तो दादी-नानी तक को गोत बचे हो और कहाँ अब भाई की छोरी ही घर में बहू बण के आ रही है।''[25]

अपने परिवार में घटी इस पहली घटना के कारण सलेमी इसमें शर्म भी महसूस करता है। वह कहता है—"क्या करूँ यार सार गाँओं में थू-थू होरी है—पर करो कहा जाए।"[26]

बाबू खाँ एक बार फिर चाक पूजन पर प्रश्न चिह्न लगाता है, फिर उसका तर्क यही है कि यह हिन्दुओं की रीति है हमारे हदीस में ऐसा नहीं है। सलेमी के साथ तरकीला (बाबू खाँ की पत्नी) भी इसे बुरा मानती है। बाबू खाँ जिसने शायद कुरान पढ़ी भी नहीं होगी जो हाजी अशरफ के इशारों पर चलता है, ने एक ना सुनी। तरकीला तो यहाँ तक कहती है कि, "पतो ना इ इसलाम् बिहा में ऐसो कौन सो कंचन बरसाएगो जो सब बातन पर पाबंदी लगा तो डोल रो है।"[27]

मेवात की साझी संस्कृति हमें लोक-देवता और उनकी पूजा-अर्चना के संदर्भ में भी दिखाई देती है। स्थानीय पीर दादा खानू और पंचपीर यहाँ सद्भाव के प्रतीक हैं जिन्हें हिन्दू और मेव दोनों संप्रदाय के लोग बिना किसी भेद-भाव के पूजते हैं।

मनीराम हर पुत्र जन्म, विवाह आदि अवसरों पर दादा खानू पर 'गलेप' चढ़ाता है। बनवारी के जन्म के समय सलेमी का दावत के बारे में कहने पर मनीराम कहता है—"फिकर क्यों करे है यार, जब ताकू गुड़ खवा दियो है तो लड्डू भी खवांगा-पर पहले दादाखानू और पंचपीर पे गलेप तो चढ़ा देए।"[28] दादा खानू किसी एक का नहीं है, वह सभी का है। मनीराम की उस पर अडिग आस्था है। वह मानता है कि उनके प्रताप से ही मनीराम का परिवार सदैव आसेव से दूर रहा है। भरपूला जो मेव फकीर है वह दादाखानू पर गलेप चढ़ाने का काम करता है। आशीष देते समय और 'सेनक' लेते समय वह विचार नहीं करता कि इसका संप्रदाय कौन-सा है।

इस साझी संस्कृति में मजहब का भेद नहीं है। यहाँ के लोक देवता सबके हैं। दादा खानू पर गलेप चढ़ाने जाती महिलाओं में हिन्दू भी हैं। उनके गीतों में भी सामासिकता झलकती है। यहाँ यह विचार नहीं किया जाता कि वे मुस्लिम गीत गा रही हैं या राम-कृष्ण के हिन्दू गीत। उनके लिए गीत, गीत हैं—बिना किसी अर्थ और गहराई के समझे गाए गए ऐसे गीत—

"पिपलिया झकझाल री
जहाँ सय्यद को थान
सय्यद बड़े औलिया

अम्माँ तेरी ढो रई व्यार

घेरे लई सब गावड़ी

घेरे मोहन ग्वाल'[29]

इस गीत में सैयद साहब दादा खानू का जिक्र है साथ ही मोहन ग्वाल कृष्ण भगवान का भी जो इनकी सामासिकता को दर्शाता है। यहाँ इन गीतों के साथ औरतें भजन भी गाती जाती हैं--

"राम और लिच्छमन दसरथ के बेटे

दोनों बन-खंड जाएँ

एक बन, दो बन, तीजे बन में प्यास लगी

ना वाँ कुआँ, ना जोहड़

हर के घर से उठी बदलिया

बरसे मूसलधार

भर गए कुआँ, भर गए जोहड़

भर गए समंद-तालाब

हे री ऽ ऽ कोई राऽम मिले भगवाऽऽन।'[30]

जिस दादाखानू और पंचपीर पर सभी का अधिकार था और जिसे सदियों से सभी पूजते आए थे उस पर भी कुछ लोगों की अधिकार भावना सामने आती है। बाबू खाँ सलेमी से कहता है--"बाप ई दादाखानू है तो मेवन् को--फिर चाहे हम अपनी कीकर एक काटें या कुछ भी करें।"[31] सलेमी इस अधिकार भावना से उपजे अलगाव के कारण चिंताओं से घिर जाता है। उसे साझी संस्कृति के सामने उत्पन्न संकट स्पष्ट दिखाई देने लगता है। बाबू खाँ अकेला पात्र नहीं है जिसकी राय दादाखानू के बारे में ऐसी है, सुभानखाँ की राय भी इसी तरह की है।

सुभान खाँ दादाखानू पर मनीराम के द्वारा गलेप चढ़वाने से मना कर देता है। वह इसके पीछे आर्थिक कारण बताता है कि ताऊ गुजारा नहीं होता इस कार्य से। इसके पीछे महज आर्थिक कारण ही नहीं है, इस बात का खुलासा तब होता है जब सुभान खाँ 'सेनक' व दीपक लेने से भी मना कर देता है। सुभान खाँ कहता है--"ताऊ दीवा लेके कहा करें. ...रामदेई कौण सा मुफत में देएगी...वाहे ना देनो पड़ेगो सेर आध सेर नाज...और फिर ताऊ

सही बात तो ई है कि हमारे कौण सी होली दीवाली मने है जो हम दीवा लेएँ।''[32]

वीरेन्द्र यादव लिखते हैं—''सुभान खाँ का दिवाली के दीए लेने से इनकार करना महज आर्थिक दबाव' का परिणाम न होकर उस मजहबी विलगाव का द्योतक है जो मेव संस्कृति के विरुद्ध है।''[33]

नई पीढ़ी सुभानखाँ, बाबूखाँ, छोटका आदि सभी इसमें योगदान देते हैं। आशंकित बनवारी भी कहता है कि इस इलाक़े पर अब भरोसा नहीं है क्योंकि ''हमारे मन्दिरों की मूर्तियाँ तोड़ी जा रही हैं, हमारे साधु संतों को मारा-पीटा जा रहा है।''[34]

सलेमी सांस्कृतिक विघटन से त्रस्त होकर अतीत की स्मृतियों में खो जाता है। अतीत उसके लिए सुखद है, वर्तमान भयावह है। वर्तमान में वह संशय से त्रस्त रहता है। वर्तमान अतीत से ज़्यादा कड़वा और चोटिल है। वह अतीत से वर्तमान की तुलना करता है और फिर विचित्र सी दुश्चिंताओं से स्वयं को आबद्ध पाता है। सलेमी कहता है, यह वही सुभान खाँ है—''जिसे मावस और हर सोमवार की पूजी जाने वाली खेड़ा देवत के लिए उतारे गए रूमाली के हाथ के पुआ-पूरियों का इन्तजार रहता था। उसी सुभान खाँ ने सेनक लेने से मना कर दिया जो हर मंगलवार को बंटने वाले प्रसाद को लेकर तभी हटता था, जब उसे अपने अलावा माँ, बाप और सारे भाई-बहनों का नहीं मिल जाता था।''[35]

सुभान खाँ, जिसे बचपन में हिन्दू-मेव में कोई भेद नजर नहीं आता था, वह अचानक कैसे बदल गया? कारण अवश्य कोई न कोई तो होगा ही अन्यथा बालपन से युवा होने में ऐसा क्या परिवर्तन हुआ जिसने उसके मानस को ही बदल दिया? उपन्यासकार ने इसका कारण बताया है कि किस तरह बाहरी लोगों द्वारा परिवेश को बदला गया है।

यहाँ दिनों-दिन लोगों में धार्मिकता के प्रति अतिवादिता का भाव भरता जा रहा है। दीनी तालीम के नाम पर लोगों की सोच को संकीर्ण बनाया जा रहा है। जहाँ कुछ मुस्लिम संगठन मेवों को दीन से बेख़बर और उदासीन मानकर उन्हें दीन की तालीम देना चाहते हैं। वहीं कुछ तथाकथित राष्ट्रवादी संगठन मेवात में हिन्दू अस्मिता के नाम पर हिन्दू रक्षा का दायित्व कंधों पर लेते हैं। दोनों ओर क़ौम और मजहब के पहरेदारों की जमात खड़ी हो जाती हैं। देवबंद से आई मौलवियों की जमात करीम हुसैन से कहती है—''हम चाहते हैं कि मेवात में मुसलमानों को इस्लाम की तालीम दी जाए, हमने पूरे इलाके में घूमकर देखा है और यह गौर किया है कि यहाँ के मुसलमानों में मजहब में कोई खास दिलचस्पी नहीं है।''[36]

सलेमी बताता है कि पहले मन्दिर-मस्जिद निर्माण में सभी लोग पैसे देते थे लेकिन अब नहीं देते। सलेमी बाबू खाँ को मदरसे के लिए चन्दा माँगने पर मना कर देता है। सलेमी इसके पीछे छुपे उद्देश्य से भली-भाँति परिचित है। मन्दिर-मस्जिद जिनका पहले ज्यादा महत्व नहीं था, अब वे राजनीति के अड्डे बन गए हैं। बाबरी मस्जिद तोड़े जाने का आक्रोश नगीना में स्पष्ट दिखाई देता है। अयोध्या कांड के दौरान वहाँ के एक मन्दिर को लूटा जाता है। बाबू खाँ का तर्क होता है–"माणस तो मरंगा ही अरे अजोध्या में हिन्दून्ने हमारी महजत गिरा दी तो कहा हम मुसलमान इनका मन्दरन्ने भी ना लूटें।"[37]

सलेमी इसे गलत बताता है, वह कहता है कि–"जिन्ने तिहारी महजत तोड़ी है उनका मुँह ए जाके फोड़ो...इन विचारन् सू कहा कहो...अन्यायी तमन्ने थोड़ी बहोत भी शरम ना आई के जिनके पै हम रात दिन उठे बैठे हैं उनका मन्दरन् के कैसे हाथ लगाए।"[38]

हरसाय भी यही कहता है–"मेरे यार झंडो गड़ेगो अजोध्या में....झगड़ा फिसाद होएगो अजोध्या में, या मेवात में कौन सो तेरा कोई बाल उखाड़ लेएगो....अपनी ऐसी तैसी में जाएं ये मंदर महज....।"[39]

इस प्रकार यहाँ धार्मिक कट्टरता मेवाती संस्कृति के लिए ख़तरा बनती है और इसमें उत्प्रेरक तत्व का काम बाहरी लोग अधिक करते हैं। इन लोगों को अपने क्षुद्र स्वार्थों के चलते इस सद्भाव को मिटाना है। बाहरी व्यक्तियों को यह संस्कृति अखरती भी है। इसका प्रमाण है प्रो. उस्मानी और डा. शफी कुर्रहमान की वार्ता। डा. शफी कुर्रहमान भाषण सुनने के बाद कहते हैं–"उस्मानी साहब लगता है हम लोग यहाँ गलत आ फंसे हैं–आपकी बातें सुन-सुनकर तो मेरा सिर घूमने लगता है।"[40] ये बातें कौन-सी हैं जिनसे इन महाशय का सिर घूमने लगता है? ये बाते हैं–मेवों का स्वयं को सूरजवंशी व चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानना, मुसलमान न मानकर मेव पहले मानना, शादी के अंदर चार गोत्र टालना और इनके सामासिक संस्कार। स्वाभाविक है उस्मानी जी की संस्कृति भिन्न है उन्हें मेवों की संस्कृति पसंद नहीं आएगी।

इन्हीं की तरह अन्य बाहरी लोग भी हैं जो अपने आपको हिन्दुओं के रहनुमा मानते हैं। इनमें प्रमुख हैं–विसम्भर सन्नार्थी, अभय चन्द आर्य व स्वामी रूपानंद सरस्वती, इन्हें यहाँ की संस्कृति से कोई लगाव नहीं है। ये लोग सिर्फ छोटे-छोटे मुद्दों को धार्मिक रंग देकर अलगाव ही पैदा करते हैं। बिसंभर सन्नार्थी (शरणार्थी) विभाजन के समय पाकिस्तान से

आकर मेवात में बसा है।

सरपंची के चुनाव के वक्त छोटे से मामले से यह विवाद शुरू होता है। गाँव दो घड़ों में बँट जाता है—एक तरफ मेव और दूसरी तरफ हिन्दू। हाजी अशरफ को वोट देने के लिए जमात ने निर्णय किया है अर्थात् ये लोग अपने स्वार्थों के चलते इस प्रकार के मुद्दे बना लेते हैं कि इस बार सरपंची मेवों के हाथ में होनी चाहिए। बाबू खाँ सलेमी से कहता है, "बाप चौधरी मुर्शीद ने साफ कर दी है के नगीणा में सरपंची अबके कोई भी हालत में हिन्दून पे ना जाणी चाहिए-रात कू, हाजी अशरफ की कचेड़ी में चौस्साब के आगे ई फैसलो हुओ है।"[41]

सरपंची चुनाव में गुटबन्दी का कारण क़ौम की उन्नति के लिए प्रयत्न करना नहीं है बल्कि एक-दूसरे को आपस में भिड़ाकर चुनाव जीतना ही असली उद्देश्य है। "चौधरी करीम हुसैन राजनीति में अपनी पैठ बनाने के लिए मेवों को हिन्दुओं के खिलाफ उकसा-उकसा कर ही राजनीति में जड़ जमाए हुए हैं।"[42]

मेवों को उकसा कर करीम हुसैन, मुर्शीद अहमद और हाजी अशरफ जैसे लोग हिन्दुओं के प्रति नफरत फैलाकर मेवों के बीच अपनी पैठ बनाने का प्रयास करते हैं। 30 नवम्बर की घटना के डर से भाग लोगों के घरों पर तालों को करीम हुसैन इस प्रकार हिला-हिलाकर देखता है कि तुमसे ये भी तोड़े नहीं गए।

राजनीतिज्ञों की भांति ही धार्मिक चरित्र भी उन्माद भड़काने में कोई कसर नहीं छोड़ते स्वामी रूपानंद सरस्वती इसमें प्रमुख रूप से सक्रिय रहते हैं। स्वामी जी मस्जिदों के समान अपने मन्दिरों पर भी लाउड स्पीकर लगवा चुके हैं। इस पुण्य में वे अकेले नहीं हैं उनके सहयोगी हैं—अभयचन्द आर्य, विशम्भर सन्नार्थी और ज्ञानचन्द जैन। स्वामी रूपानंद सरस्वती मेवात को केवल हिन्दू क्षेत्र बनाने के लिए प्रचार करता है—"इन ससुरे कटुओं के खाता जब पाकस्तान बणवा दिया तो फेर ये इस मुलक में क्यों कर पड़े हैं....इन काफिरों का मुलक तो पाकस्तान है....इन बाबरों की औलादों को तो अणे ते भगाणा जरूरी है, जभी इस मुलक में सुख-समृद्धि आएगी...तभी तो हिन्दू रास्टर बन सकेगा और जभी इस मुलक में आर्य पुत्तर राज कर सकेंगे।"[43]

पंचायत चुनाव की छोटी सी घटना सांप्रदायिक रूप ले लेती है। 30 नवंबर की घटना के बाद गाँव में बाहरी लोगों का प्रभाव बढ़ जाता है। लोग मीटिंग करते हैं और ज्ञानचंद

जैन जैसे लोग जो छुआछूत में विश्वास करते हैं वे स्वयं की रक्षा के लिए हिन्दुत्व के नाम पर दिल्ली जाकर दलितों को वोट डालने के लिए लाते हैं। 30 नवंबर की घटना के बाद सबको तैयार रहने के लिए विश्व हिन्दू परिषद् द्वारा हिन्दुओं को अपनी रक्षा के लिए शस्त्रों को भी बांटने का प्रयास किया जाता है।

इन घटनाओं का परिणाम यह होता है कि यहाँ लोग परस्पर अविश्वास से आबद्ध हो जाते हैं। लोग अख़बारों की ख़बरों पर ज्यादा विश्वास करने लगते हैं। बनवारी सलेमी से कहता है कि मेवात तो दूसरा पाकिस्तान बनता जा रहा है। यहाँ के हिन्दुओं को भगाया जा रहा है। बनवारी के शब्द–"ताऊ छोड़ंगा नहीं तो छुड़वा दियो जाएगो....अब तो या इलाका को वैसे ही कोई भरोसा ना है...ना तो पहले वाली बात रही और ना ही पहले वाली आपसदारी।"[44] यह 'पहलेवाली बात' और 'आपसदारी' वास्तव में संकट में पड़ गई है जिसका प्रमाण स्वयं बनवारी के चरित्र के माध्यम से भी देखा जा सकता है जब वह कहता है कि "बखत पड़ने पर कोई किसे के चिरे पर नहीं मूतता है आज बल्कि पहला जैसा टेम ही नहीं रहा....अब किसी के अन्दर क्या है कुछ पता नहीं चलता....और फिर इस कौम पर तुम्हें भरोसा होगा मुझे तो है नहीं....अरे ये कौम तो खाते-खाते दगा दे जाती है।"[45] वास्तव में यह उस बनवारी की सोच है, जिसका संबंध अब मेवात से नहीं दिल्ली से होकर रह गया है।

बनवारी इस कथन के माध्यम से संपूर्ण कौम को अविश्वसनीय सिद्ध कर देता है। इस सांप्रदायिक अलगाव में पुलिस व मीडिया की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही है। अख़बार की खबरों का मेवात के वातावरण को खराब करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। बनवारी सलेमी को बताता है कि अखबार में रोजाना खबरें आ रही हैं–"कोई बड़ी बात नहीं यह इलाका आने वाले टैम में दूसरा पाकिस्तान ही बण जाए।"[46]

साधुओं पर हमला, गाय काटा जाना, धर्म परिवर्तन आदि की झूठी खबरें भी अख़बार प्रकाशित करता है। "किसी जमालगढ़ गाँव में एक हरिजन युवक को जबरन मेव बनाया गया है। जिस हरिजन युवक को मेव बनाया गया उसे गाय का मांस खिलाया गया। उसका तुरन्त मेवणी से निकाह कर दिया गया।"[47] अखबार खबर देता है कि इस इलाके से हिन्दू, एक-एक कर पलायन कर रहे हैं जबकि वास्तविकता मनीराम बताता है कि आर्थिक पहलू ज्यादा महत्वपूर्ण है–"इस हालातान सू तो सारा बोदा आदमी यां सू चला ही जांगा वे हिन्दू

होएं या मेव...और फिर ई तो बहाना है के या इलाका में हिन्दून पे कोई जोर जुलम हो रो है... ।''[48] सलेमी कहता है–''जब बहू भगण हार होए तो ऊ बलेंडा में सांप बताए है।''[49]

मंदिर में पैसों के लोभ में बच्चों की आपसी धक्का-मुक्की में मूर्ति गिर जाती है। अखबार खबर देता है कि फलां मंदिर की मूर्ति मेवों द्वारा गिरा दी गई है। इस तरह मीडिया यहां अलगाव बढ़ाने का कार्य करता है न कि उसे कम करने का। ऐसी घटनाओं के माध्यम से लेखक मीडिया की भूमिका को भी उद्घाटित करना चाहता है।

पुलिस-प्रशासन भी इस सांस्कृतिक विघटन में सहयोगी बनती है। पहली बार तो 6 दिसंबर के बाद की घटना में दंगाइयों का समर्थन करती है, उन्हें उकसाती है, उन्हें बाजार व मंदिर लूटने की हिदायत देती है। सलेमी को नगीना के थाने में एक भी पुलिसकर्मी न होने से अंदेशा होता है कि कहीं पुलिस ही तो यह सब नहीं करवा रही है। एक युवक की सूचना के बाद इस आशंका की पुष्टि हो जाती है–''सिपाई-विपाई तो घणा ही है ताऊ.. .पर वे तो मजा सूं तमासो देख रहा है और मैंने तो एक सिपाई के मुं सूं या भी सुणी है के ऊ एक आदमी सूं कह रो हो अरे तम या बड़कली में कां ई लू धूम स कर रा हो हुन् नघीणा में जाओ और कुछ दुकान वुकान लूटो।''[50] दूसरी तरफ वही पुलिस बाद में नबी खाँ, असलम के अलावा अन्य मेवों को भी पकड़ ले जाती है और शांति स्थापना के नाम पर बेकसूर मेवों को पीटती है। जिसमें निर्दोष बच्चे असलम को कई दिनों तक कैद में रखा जाता है। उसकी पिटाई की जाती है।

इस प्रकार, राजनीतिज्ञ पुलिस और बाहरी व्यक्तियों के साथ मीडिया भी इस सामासिक ताने-बाने के लिए घातक सिद्ध होती है। *वीरेन्द्र यादव* लिखते हैं–''स्वातंत्र्योत्तर भारत की यह विडंबना भी अन्तर्गुंफित है कि पिछड़े कहे जाने वाले समाजों का सामुदायिक संतुलन और सौहार्द किस तरह विकास व जनतंत्र के नारों द्वारा छला जाता है।''[51] कमला प्रसाद के अनुसार–''स्वतंत्र भारत की राजनीतिक शिक्षा ने लोगों के दिमाग़ को अधिक साम्प्रदायिक बनाया है।''[52]

जिन मेवों का राष्ट्र के लिए योगदान रहा है और जिन की वीरता से प्रभावित होकर गांधी जी ने कहा था (मुख्यमंत्री के अनुसार)–''अगर मेव कौम जैसी बहादुरी, हिम्मत और देशभक्ति पूरे देश में पैदा हो जाए तो मैं चौबीस घण्टे में भारत को आजाद करा सकता हूँ।''[53]

आज वही मेव आर्य समाजी अभयचन्द आर्य, विश्वंभर सन्नार्थी व ज्ञानचन्द जैन के अनुसार हिन्दुओं के लिए खतरा हैं। जिस हसन खाँ मेवाती ने राणा सांगा के साथ मिलकर बाबर से लोहा लिया था उसी के वंशज महज मेव होने के कारण हिन्दुओं के लिए खतरनाक घोषित कर दिए जाते हैं। दुःखद बात तो यह है कि जिन मेवों ने खुद बाबर से लोहा लिया था और उसे विदेशी हमलावर बताया था, उन्हें ही आज बाबर की औलाद कहा जाता है। इन्हीं मेवों को 1947 की भग्गी में गाँधीजी ने आकर पाकिस्तान जाने से रोक लिया था। गाँधी जी घासेड़ा की मुख्य सड़क पर आकर लेट गए थे, जिस रास्ते से मेव पाकिस्तान जा रहे थे। गाँधी जी ने कहा था कि वे मेव अगर पाकिस्तान जाएगा तो मेरी लाश के ऊपर से जाएगा। गांधी जी की बात का इतना असर हुआ कि सभी मेव वापस हो गए और अपने-अपने घरों में रहने लगे। गांधी जी ने इसीलिए इन्हें रोका था कि इनके जाने से मेवात की संस्कृति नष्ट हो जाएगी।

मेव पक्के राष्ट्रवादी होने के बावजूद भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बाहर हैं। *वीरेन्द्र यादव* लिखते हैं—"यह उपन्यास मेव मुसलमानों की उस त्रासदी को उजागर करता है जो इस्लाम धर्म स्वीकार करके भी पक्के मुसलमान नहीं बन सके और पक्के राष्ट्रवादी होने के बावजूद सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों के विमर्श से बाहर हैं।"[54]

इस प्रकार 6 दिसंबर की घटना से पूर्व परिस्थितियाँ ऐसी बन जाती हैं जो मेवात की साझी संस्कृति के लिए संकट उत्पन्न करती हैं। मंदिर मस्जिद इबादत के केन्द्रों की बजाय राजनीति के अड्डे बन जाते हैं। लोगों के बीच परस्पर अविश्वास की खाई चौड़ी होती जाती है, आत्मीयता समाप्त हो जाती है। ऊपर से पूरा गांव एक लगता है लेकिन वह हिन्दू व मेव दो वर्गों में बँट जाता है। प्रत्येक निर्णय मजहब के आधार पर लिया जाता है। राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थों के कारण इसी तरह का परिवेश उत्पन्न कर अपनी रोटी सेंकते हैं और धार्मिक नेता अपना मतलब साधते हैं। बाहरी लोग जिन्हें न इस संस्कृति से कोई लगाव है न इसका ज्ञान। वे आग में घी डालने का काम करते हैं। परिस्थितियाँ विकट से विकटतर बनती जाती हैं। मीटिंगों का सिलसिला शुरू होता है। "आर्य समाज मंदिर में आए लोगों की इलाके के हिन्दुओं की सुरक्षा को लेकर गुप्त बैठक होती है, तो कभी सुनने में आता है कि आज रात हाजी अशरफ की कचेड़ी में चौधरी करीम हुसैन इलाके के कुछ खास लोगों की मीटिंग बुला रहे हैं।"[55] मेवों को तैयार रहने के लिए करीम हुसैन, मुर्शीद अहमद

आदि कहते हैं तो हिन्दुओं की रक्षा का दायित्व बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद के कार्यकर्ता विसंभर सन्नार्थी, अभयचन्द आर्य व रूपानंद सरस्वती लेते हैं। दलितों को वे अपनी रक्षा के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं लेकिन वे इस उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते।

इसी बीच बाबरी मस्जिद का विध्वंश कर दिया जाता है और इसका परिणाम मेवात में भी दिखाई पड़ता है। हाजी अशरफ के नेतृत्व में बाबू खाँ, सुभान खाँ आदि मेवों की टोली मन्दिर तोड़ती है। इनका तर्क यह है कि इन्होंने हमारी मस्जिद तोड़ी इसीलिए हम इनका मंदिर भी न तोड़ें? पुलिस की भूमिका मूकदर्शी से अधिक नहीं होती। चौधरी करीम हुसैन व मुर्शीद अहमद अपना राजनीतिक प्रभाव जमाते हुए दंगाइयों को एस. डी. एम. से सुरक्षा प्रदान कराते हैं। सारा मेवात जल उठता है। इन्हीं के बीच कुछ ऐसे चरित्र भी हैं जो इन्हें रोकना चाहते हैं। इन्हीं में से एक हैं सलेमी। सलेमी नगीना गांव में हाजी अशरफ के नेतृत्व में आती भीड़ में अपने बेटे बाबू खाँ को देखकर उसे सरेआम जूतों से पीटता है। सलेमी कहता है कि तुम्हें शर्म भी नहीं आई कि जिनके साथ हम उठते-बैठते हैं उनके मन्दिरों को कैसे हाथ लगाएं? सलेमी उस भीड़ को छिन्न-भिन्न कर देता है।

इसके बाद पुलिस आती है तब तक दोषी लोग जा चुके होते हैं—ठीक हिंदी फिल्मों की तरह। पुलिस निर्दोष बुढ़े-बच्चों को पकड़ कर ले जाती है और उनकी पिटाई करती है।

पुलिस नबीखाँ और किशोर असलम जैसे निर्दोषों को उठाकर ले जाती है। इन लोगों को कई दिनों तक जेल में बंद रखा जाता है। उनका रक्षक कोई नहीं होता। छोटेलाल, मनीराम, हरसाय के परिवारों की रक्षा मेवों के दंगाइयों से सलेमी, रोबड़ा, तरकीला, नबीखाँ सभी करते हैं। वे उनके चारों तरफ घेरा बनाकर बैठ जाते हैं।

दंगों में सब कुछ बदल जाता है। वास्तव में यह टूटन है संस्कृति की, इसी कारण जो हरसाय संस्कृति का रक्षक था, वह गांधी के इस कृत्य की निंदा करता है कि क्यों इन मेवों को रोक लिया गांधी ने। हरसाय कहता है—"अन्यायी एक तो हमारा मंदरन् पे ये चढ़-चढ़ जाएँ और तू कह रो है के मेरा मुँ सू ई बात सोभा ना देए.... ।...यार मनीराम गांधी ने ऐसी तैसी करा ली—नहीं तो अच्छा भला सारा मेव पाकस्तान जारा हा वा बखत...गांधी तो बीज बोके चलोगे पर अब काटना तो हमने पड़ रहा है।"[56]

यह टूटन एक दिन की देन नहीं है वरन् क्रामिक है पर सबसे अधिक यह टूटन सलेमी के चरित्र में सामने आती है। सलेमी अंत तक लड़ता है, अपनी संस्कृति को बचाने का

प्रयत्न करता है। *सुधीश पचौरी* लिखते हैं–"मेवात का यह बूढ़ा हसन माँ मेवाती का सच्चा वंशज लगता है जो अपने साझे जीवन के तर्क को समझता है और उसको टूटने न देने के लिए अपने अकथनीय तरीके से जूझता है। उसे गांव से हिन्दुओं का जाना पसंद नहीं आता। उसे सुलेमान का दूसरी बीबी लाना पसंद नहीं आता। उसे अपने बेटे की बदमाशियां अपमानित करती हैं।"[57] कुल मिलाकर वह मेवाती संस्कृति का सच्चा प्रतीक है, रक्षक है। परंतु उसका जीवन विडंबनापूर्ण त्रासदी के रूप में समाप्त होता है। यह वही सलेमी है जो गांधी जी के इस कृत्य की प्रशंसा करता है कि उन्होंने मेवों को पाकिस्तान जाने से रोक लिया।

वह हसन खाँ मेवाती के राणा सांगा का साथ देने की बात से खुश होता है। वह भग्गी (विभाजन) में जिन्ना का साथ न देकर पाकिस्तान न जाना जीवन का श्रेष्ठ निर्णय मानता है। वह मानता है कि अगर वह पाकिस्तान जाता तो उन्हें वहां मोहाजिर बनकर रहना पड़ता। वह कहता है यहाँ चाहे रूखी-सूखी मिले पर है तो अपने घर की। बाबरी मस्जिद के विध्वंश के बाद पुलिस का अत्याचार उसके इस विचार को बदल देता है। वह मरता नहीं है वरन् मरण को चुनता है। वह मरते वक़्त कहता है–"मनीराम मोहे अब भी लग रो है के पाकस्तान ना जाके हमन्ने कितनी बड़ी गलती करी ही...अच्छा हो तो अगर हम भी वा बखत पाकस्तान चका जाता...पतो ना ऊपर वाला ने वाई बखत ऊ गांधी या इलाका में काई लू भेज दियो...ऊ थोड़ा दिन और रूक जातो तो वाको कह बिगड़ जातो...अरे ऊ तो हमन्ने या फंसा कें अल्ला कू प्यारो हो गो और भुगत रा हैं हम।...अरे कम सूं कम पाकस्तान में ई जलालत तो ना भुगतनी पड़ती जो आज हमन्ने या मुलक में भुगतनी पड़ री है।"[50] यह जलालत हे देशद्रोही कहलाने की। यह जलालत वही है जो राष्ट्रवादियों को भी राष्ट्रवादी इसी कारण नहीं मानती क्योंकि वे मुसलमान हैं।

सलेमी की अंतिम स्मृतियाँ उसे पाकिस्तान से जोड़ती हैं। वह डरता है कि इस बार गांधी न रोक ले। इसी प्रकार नबी खाँ भी टूट जाता है। वह अपने ही देश में परायापन महसूस करता है। वह मनीराम से कहता है–"मनीराम अब तो सिरकार भी तिहारी है और पुलिस भी तिहारी है....हमारो भी या मुलक में कोई हो तो आज ये दिन ना देखना पड़ता।. ...अरे हम याए अपना मुलक समझे बैठा हैं...वामें हमारी मुहाजरन् सूँ भी बुरी हालत हुई पड़ी है।"[59]

मरते वक़्त लगता है सलेमी की इच्छा पाकिस्तान जाने की है, लेकिन ऐसा है नहीं। वास्तव में वह मरते हुए उस सलेमी का संताप है जो भारत को अपना देश मानता है और इसी संताप के चलते वह पाकिस्तान चले जाने की बात सोचता है—"ऊ जो रेल चली आ रही है न मनीराम....वामे चलंगा....और हूनी सू बाद में पाकस्तान चला जांगा...वा गांधी से कह दीजो के खुदा के वास्ते वाहे अब के ना रोके।"[60]

सलेमी व नबी खाँ जो मोहाजिर बनने को उचित नहीं मानते वे अंत में पाकिस्तान जाना भी पसंद करते हैं। यहाँ मेवाती संस्कृति की टूटन स्पष्ट परिलक्षित होती है। "यह स्वातंत्र्योत्तर कालीन भारतीय समाज में धर्म-निरपेक्ष ढांचे की टूटन के रूप में पढ़ा जा सकता है जो बाबरी मस्जिद ध्वंश के साथ दरक चुका है।"[61] सलेमी जिन जीवन मूल्यों को लेकर चलता है, जो उसकी संस्कृति का अंग है और जिन पर वह सबको आंकता है उन्हीं जीवन मूल्यों को स्वयं तिरोहित करता है।

6 दिसंबर के बाद भी घटना सलेमी को तोड़ देती है क्योंकि वह अपने ही लोगों के बीच उन्हीं के द्वारा अप्रासांगिक बना दिया जाता है। वह मरण का वरण करता है। गांधी जी का कृत्य उसके लिए गलत साबित होता है। नबी खाँ खुद को अपने ही देश में पराया महसूस करता है। सलेमी पूर्णतया गांधीवादी विचारों का प्रतिनिधि पात्र नज़र आता है। सलेमी की मौत गांधी जी के सपनों की मौत है। आज़ाद भारत में जिस तरह कुछ लोगों के लिए गांधीजी अप्रासंगिक हो जाते हैं उसी तरह सलेमी भी अपने ही कुछ लोगों द्वारा अप्रासांगिक कर दिये जाते हैं। सलेमी की मौत मेवात की साझी संस्कृति और उसके प्रयासों की मौत साबित होती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सं. शैलेन्द्र सागर : 'कथाक्रम', कथा साहित्य, कला एवं संस्कृति की त्रैमासिकी) मुद्रक : प्रकाश पैकेजर्स, 257, गोलागंज, लखनऊ, जनवरी-मार्च 2005, पृष्ठ-46
2. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़ राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-51, पहला संस्करण, 1999, पृष्ठ-15
3. वही, पृष्ठ-89
4. वही, पृष्ठ-342
5. सं. नामवर सिंह : 'आलोचना' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02, जुलाई-सितंबर 2001, पृष्ठ-81
6. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-52
7. वही, पृष्ठ-52
8. वही, पृष्ठ-220
9. वही, पृष्ठ-270
10. वही, पृष्ठ-32
11. वही, पृश्ठ 271
12. वही, पृष्ठ-271
13. वही, पृष्ठ-64-65
14. वही, पृष्ठ-32
15. वही, पृष्ठ-33
16. वही, पृष्ठ-375
17. वही, पृष्ठ-375
18. वही, पृष्ठ-376
19. वही, पृष्ठ-377
20. वही, पृष्ठ-87
21. वही, पृष्ठ-88

21. वही, पृष्ठ-88

22. वही, पृष्ठ-112
23. वही, पृष्ठ-87
24. वही, पृष्ठ-337

25. वही, पृष्ठ-337

26. वही, पृष्ठ-337

27. वही, पृष्ठ-338

28. वही, पृष्ठ-55

29. वही, पृष्ठ-57

30. वही, पृष्ठ-58

31. वही, पृष्ठ-60

32. वही, पृष्ठ-259

3. सं. नामवर सिंह, आलोचना, जुलाई-सितंबर 2001, पृष्ठ-81

34. भगवान दास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-271

35. वही, पृष्ठ-267

36. वही, पृष्ठ-79

37. वही, पृष्ठ-422

38. वही, पृष्ठ-423

39. वही, पृष्ठ-303

40. वही, पृष्ठ-88

41. वही, पृष्ठ-374

42. वही, पृष्ठ-73

43. वही, पृष्ठ-268

44. वही, पृष्ठ-317

45. वही, पृष्ठ-265

46. वही, पृष्ठ-265

47. वही, पृष्ठ-302

48. वही, पृष्ठ-282

49. वही, पृष्ठ-282

50. वही, पृष्ठ-420

51. सं. नामवर सिंह : आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 2001, पृष्ठ-82

52. सं. सत्यप्रकाश मिश्र : माध्यम, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, जनवरी-मार्च, 2001, पृष्ठ-237

53. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-80

54. सं. नामवर सिंह : आलोचना, जुलाई-सितम्बर 2001, पृष्ठ-80

55. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़ा, पृष्ठ-370

56. वही, पृष्ठ-452

57. सं. राजेन्द्र यादव : हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, दिसबर-1999, पृष्ठ-86

58. भगवानदास मोरवाल : काला पहाड़, पृष्ठ-442

59. वही, पृष्ठ-442

60. वही, पृष्ठ-459

61. सं. नामवर सिंह : आलोचना, जुलाई-सितम्बर 2001, पृष्ठ-80

चतुर्थ अध्याय

मेवात में सामासिक संस्कृति का भविष्य

मेवात में सामासिक संस्कृति का भविष्य

सामासिक संस्कृति का भविष्य विषयक इस अध्याय में हम मेवात में सामासिक संस्कृति के भविष्य के विषय में विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करेंगे। हम उन मुद्दों के तरफ भी ध्यान देंगे जिनके चलते सामासिक संस्कृति को खतरा उत्पन्न होता है। मेवात में सामासिक संस्कृति का भविष्य क्या होगा इस विषय पर अधिकारिक रूप से कोई भविष्यवाणी करना तो आसान नहीं होगा, क्योंकि भविष्य में किस तरह की परिस्थितियाँ यहाँ बनती है, मेवात का भविष्य उनसे भी प्रभावित होगा, लेकिन एक अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है और कुछ शर्तों को पूरा किया जाए तो अधिकारिक तौर पर भी यह कहा जा सकता है कि मेवात में सामासिक संस्कृति को कोई खतरा निकट भविष्य में उत्पन्न नहीं होगा।

किसी भी जाति, धर्म, समाज या संस्कृति के भविष्य के बारे में तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक उसके अतीत और वर्तमान को ठीक से न जान लिया जाए। अतः मेवात की सामासिक संस्कृति के भविष्य के बारे में कुछ भी कहने से पूर्व हमें मेवात के अतीत व वर्तमान को भी गौर से जाँचना-परखना पड़ेगा।

सामान्यतः सभी जानते हैं और हमने पूर्व अध्याय (सामासिक संस्कृति और मेवात क्षेत्र की परंपराएं) के माध्यम से ये बताया भी है कि मेवात का अतीत हिन्दू-मुस्लिम एकता की मिसाल के तौर पर देखा जाता रहा है। अतीत में यहाँ किसी भी तरह के साम्प्रदायिक या जातिगत विद्वेष का वातावरण नहीं रहा है। वर्त्तमान कुछ कड़वाहट लिये हुए जरूर है। उसके वाजिब कारण और परिस्थितियाँ यहाँ मौजूद हैं। जब से देश में मंदिर-मस्जिद की राजनीति शुरू हुई है, तब से मेवात में आए दिन किसी न किसी बहाने मेव और हिन्दू समुदाय एक-दूसरे पर कुछ-न-कुछ आरोप प्रत्यारोप लगाते रहे हैं। क्षेत्र में साम्प्रदायिक तनाव का एक कारण गौ-वध भी माना जाता है।

अयोध्या में बाबरी मस्जिद-ध्वंस के बाद मेवात के साथ-साथ जयपुर सहित राजस्थान के कई शहरों में साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। इन दंगों की जाँच करने के लिए तत्कालीन राज्य

सरकार ने दिसम्बर 1992 में जस्टिस टिबरेवाला जाँच आयोग भी बनाया था, जिसकी रिपोर्ट अभी तक सार्वजनिक नहीं की गई हैं। इसके बाद 1999 में जयपुर के एक कब्रिस्तान पर अतिक्रमण को लेकर फिर दंगा हुआ। इसकी जाँच के लिए भी जस्टिस सक्सेना जाँच आयोग का गठन किया गया जो हाल तक इसकी सुनवाई में लगा हुआ था।

2002 के गुजरात दंगों और नरसंहार का राजस्थान पर सर्वाधिक असर हुआ। प्रदेश के सीमान्त जिलों में कई जगह आगजनी और आक्रमण की घटनाएं सुनने को मिलीं। राज्य सरकार को आसींद, व्यावर और गंगापुर सिटी सहित कई कस्बों में साम्प्रदायिक तनाव के चलते कर्फ्यू भी लगाना पड़ा। 'राजस्थान के हाड़ौती अंचल के झालावाड़ा जिले में अकलेरा कस्बे व उसके इर्द-गिर्द के गांव में अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय के घरों पर हिन्दू कट्टरपंथी संगठन बजरंग दल द्वारा आक्रमण किया गया। (सितम्बर 17, 18 व 19, 2003) तथा उनकी सम्पत्ति को या तो लूट लिया गया अथवा नष्ट कर दिया।'[1] मेवों की तरह राजस्थान में कई ऐसे समुदाय हैं, जिनकी संस्कृति मिश्रित है, उन्हें हिन्दू या मुस्लिम के खाँचों में बाँटना मुश्किल है। लंगा और मांगणियार लोक गायकों की शैली सूफियों की परंपरा से मेल खाती है। इस क्षेत्र में *डॉमिनिक सिला खान* का अध्ययन *'कन्वर्जस एण्ड सिफटिंग आइडेंटिटीज : रामदेव पीर एण्ड दि इस्माइलीज इन राजस्थान'* महत्वपूर्ण हैं। राजस्थान में ऐसी मिश्रित संस्कृति वाले सैकड़ों समुदाय हैं जिन्हें हिन्दू-मुस्लिम की रूढ़ श्रेणियों में रखना मुश्किल है। विगत वर्षों में कई संगठन इनके साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के प्रयासों में लगे रहे हैं और उन्हें किसी हद तक कामयाबी भी मिली है। चीता-मेरात, लंगा-मांगणियार और गद्दी आदि ऐसे अधिकतर समुदाय प्रदेश में इधर-उधर फैले हुए हैं जबकि मेव समुदाय एक निश्चित भू-सांस्कृतिक क्षेत्र में बसा है।'[2]

मेवाती लोक कवियों में संत लालदास, भीक जी, चरणदास, सहजोबाई, दयाबाई, अलीबख्श और खक्के कवि का महत्वपूर्ण स्थान है। सूफी संतों एवं भक्त कवियों का साहित्य इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह जाति-धर्म के आधार पर व्यक्ति की पहचान नहीं देता बल्कि उसे व्यक्ति के रूप में पहचानता है। इनका साहित्य धार्मिक शुद्धतावाद, संकीर्णता और अलगाव के विपरीत मानवीय गरिमा का पक्षधर रहा है। वास्तव में इन्होंने एक साझी संस्कृति के धरातल को विस्तार दिया था। लेकिन विडम्बना यह है कि वर्तमान में मेव नायकों की शौर्य-गाथाएं हों या संत साहित्य, सभी विस्मृत होता जा रहा है। हमारी युवा

पीढ़ी तो इससे बिल्कुल बेखबर नजर आती है। मेवात में सामासिक संस्कृति को मजबूत करने के क्रम में इस साहित्य को प्रकाश में लाना होगा व इसके महत्व को भी प्रतिपादित करना होगा, जो आगे चलकर सामासिक संस्कृति के विकास में साधक हो सके।

भक्त कवियों व सूफी संतों की विरासत को भी हम आगे बढ़ाने में नाकाम रहे हैं। बड़े दुख की बात है जो संत हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतीक के रूप में ख्यात हैं, उन्हीं को लेकर वर्तमान में हिन्दू-मुस्लिम समुदायों में तनाव बना हुआ है। कुछ कट्टरपंथी हिंदू संगठन संत लालदास को हिन्दू बताते हैं जबकि संत लालदास का जन्म एक मेव परिवार में हुआ था। संत लालदास को हिन्दू बताते हुए जून 2004 में मेवात में एक शोभा यात्रा निकाली गयी, जो सैकड़ों गाँवों से होकर गुजरी। 'शेरगढ़ में संत लालदास की मजार पर हिंदू बनियों ने साम्प्रदायिक संगठनों की मदद से ट्रस्ट बनाकर कब्जा कर लिया है।'[3]

इसी प्रकार संत चूडसिद्ध की मजार पर भी विवाद हुआ। इस मजार पर बकरों की बलि देने की पुरानी परंपरा रही है लेकिन सन् 2003 में 'शिव सैनिकों' ने इसका विरोध किया और मामले को साम्प्रदायिक रंग दे दिया। हालांकि स्थानीय गांव वालों ने बलि का स्थान मजार से थोड़ा दूर करके मामले को सुलझाया। इसके अलावा समय-समय पर पुलिस व प्रशासन के भेदभावपूर्ण रवैये की शिकायत मेव लोग करते रहते हैं। पुलिस-प्रशासन में मेवों की संख्या नगण्य है। ये लोग मेवों के प्रति पूर्वाग्रह से युक्त देखे जाते हैं। बहुत-सी आपसी (हिन्दू-मेव) घटनाओं में पुलिस ने सिर्फ मेवों को गिरफ्तार किया और हिन्दुओं को छोड़े रखा। नौगांव के रसगण गांव व तिजारा के जंगलों में गौकशी काण्ड की घटना इसी तरह की रही है। इस घटना में हिन्दू-मेव दोनों समुदायों के लोग शामिल थे, लेकिन पुलिस ने सिर्फ मेवों को ही गिरफ्तार किया। बाद में मेवों के आंदोलित होने पर ही हिन्दू अपराधियों को भी पकड़ा गया। इसके अलावा राजाराम भादू ने अपने एक लेख में साम्प्रदायिक तनाव एवं द्वन्द्व के कुछ प्रसंगों का विवरण दिया है जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

1. 'रामगढ़ के तलावणी गांव में 1 मई 2004 को एक जटसिख की गाय एक मेव के खेत में मृत पायी गयी। गांव के साधु ने मेव पर गौहत्या का आरोप लगाया लेकिन बाद में साधु झूठा निकला।
2. रामगढ़ के खोहेड़ा (करमाली) गांव में एक जाटव की लड़की एक मेव युवक के साथ भाग गयी। इस घटना को लेकर हिन्दू कट्टरपंथियों ने दलित समुदाय

को भड़काने की कोशिशें की लेकिन वे कामयाब नहीं हुए। (नवम्बर 2003)

3. शेरगढ़ में संत लालदास की मजार पर हिन्दू बनियों ने साम्प्रदायिक संगठनों की मदद से ट्रस्ट बनाकर कब्जा कर लिया, जबकि संत लालदास का जन्म एक मेव परिवार में हुआ था।
4. खैरथल (अलवर) के चोरडी पहाड़ी गांव में गुर्जर व मेवों के बीच झगड़ा हुआ। इसमें पुलिस ने सिर्फ मेवों को गिरफ्तार किया और पक्षपातपूर्ण रवैया दर्शाया। (जनवरी 2004)
5. रामगढ़ के नीमचपुर गांव में इजरायल मेव ने जब एक जाटव को खेत से चने की चोरी करते पकड़ लिया तो उसने उलटा मेव पर जातिसूचक अपशब्द कहने का मुकदमा लगा दिया। इसमें जाटव को कट्टरपंथियों ने शह दी। (अक्टूबर, 2003)
6. अक्टूबर 2004 में ककराली गांव में हुए नकली सोने की ईंट बिक्री काण्ड में पुलिस ने मेवों के खिलाफ कार्यवाही की, जबकि इसमें लिप्त हिन्दू व्यापारी व दलाल को छोड़ दिया। इस पर मेव समुदाय ने विरोध प्रदर्शन किया।
7. पिछले दिनों (जनवरी, 2005) में नौगांवा के रसगण गांव व तिजारा के जंगलों में गौकशी काण्ड में पहले सिर्फ मेवों के खिलाफ पुलिस कार्यवाही हुई। मेवों के आन्दोलित होने पर ही हिन्दू अपराधियों को पकड़ा गया।'[4]

इन घटनाओं से स्पष्ट है कि कट्टरपंथी संगठनों का यह प्रयास रहता है कि हर घटना को साम्प्रदायिक रंग दिया जाये। साथ ही स्थानीय प्रशासन व पुलिस का रवैया भी मेव समुदाय के प्रति पक्षपातपूर्ण है। प्रशासन व पुलिस तंत्र में इस समुदाय की नुमाइंदगी नगण्य है।

इन सब के बावजूद यहां का जीवन अपनी गति से गतिमान है। अब हम मेवात में सहजीवन के कारकों की चर्चा के साथ उन शर्तों की भी चर्चा करेंगे जिनके पूरा होने पर ही सामासिक संस्कृति फल-फूल सकती है।

मेवात में सामासिक सद्भाव को बनाये रखने में अनेक तत्वों का हाथ है। यहाँ की लोक परंपराएं अद्भुत साम्य लिए हुए हैं, जिनमें दोनों समुदायों की आस्था है। होली, दीवाली, मोहर्रम, शादी-ब्याह, खेलकूद-पट्टेबाजी, पतंगबाजी आदि में लोगों की एक साथ

मौजूदगी सामूहिकता का एहसास दिलाती है।

मेवाती समाज कृषि प्रधान है, फसल की बुआई से लेकर कटाई तक व खलिहान से घर लाने तक में एक साझापन का भाव मौजूद रहता है। कृषि एक ऐसा कार्य है जो अपने आप में साझापन की मांग करता है, क्योंकि यह कार्य एक परिवार के सदस्यों से पूर्ण होने वाला नहीं है। किसी न किसी स्तर पर अपने पड़ौसी की इसमें सख्त जरूरत महसूस होती है। यह जरूरत ही इन्हें प्रकारांतर से जोड़ने का कार्य भी करती है।

शादी-विवाह, लोक उत्सव, लोक वार्ता, गीत, खेलकूद आदि में सदियों से साझेपन की एक लंबी परंपरा रही है जिसमें अलगाववादी ताकतें कुछ क्षण के लिए भेद पैदा कर सकती हैं, लेकिन लंबे समय तक इन्हें अलगाये नहीं रखा जा सकता। हिन्दू-मेव समुदाय को यहां अलगाना पानी में लाठी मारने के समान है। जिस प्रकार पानी में लाठी मारकर क्षणभर के लिए एक लकीर बनाई जा सकती है लेकिन दूसरे ही क्षण पानी फिर अपने-आप अपनी पूर्व दशा में आ जाता है, इसी तरह का मेवातियों का अलगाव है जो स्थायी नहीं रह पाता।

मेवात में सामाजिक सद्भाव का वातावरण देश के अन्य हिस्सों में घटित होने वाली घटनाओं से भी प्रभावित होता है। अतः हमें सिर्फ मेवात की सामासिक संस्कृति की चिंता नहीं होनी चाहिए बल्कि इसे पूरे देश के संदर्भ में देखना चाहिए। जैसे—बाबरी मस्जिद ध्वंश की घटना व गुजरात के दंगे। दंगों या साम्प्रदायिक घटनाओं का अपना स्थानीय प्रभाव ही नहीं होता बल्कि इनका देश व्यापी प्रभाव भी होता है। बाबरी मस्जिद ध्वंश की घटना सिर्फ अयोध्या तक सीमित नहीं रहती वह दूर-दराज के ग्रामीण अंचलों तक भी मार करती है। आज का युग सूचना-प्रौद्योगिकी का युग है। दुनिया भर में कहीं भी कोई घटना घटित होती है वह समाचार माध्यमों द्वारा चंद मिनटों में सभी जगह फैल जाती है। इसी तरह की घटनाओं का फायदा फिरकापरस्त लोग उठाते हैं और अपने मंसूबों को सफल बनाने की कोशिश करते हैं। 6 दिसम्बर 1992 को जैसे ही अयोध्या में बाबरी मस्जिद का ध्वंश होता है मेवात में उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप तुरन्त हिन्दू मंदिरों को तोड़ा जाता है। हालात उस स्थिति में और भी बदतर हो जाते हैं जब किसी अंचल विशेष के लोगों का साक्षरता अनुपात कम होता है। ऐसे अंचलों में जहां के लोग सामान्यतः 'इमोशनल' किस्म के होते हैं उन्हें छुटभैया साम्प्रदायिक नेता तुरन्त अपनी ओर आकर्षित करते हैं। जाति, धर्म की अस्मिता का नारा उछाल कर, भावनाओं को भड़काकर ऐसे समय बड़ी से बड़ी घटना को अंजाम

दिया जा सकता है। इस तरह की धार्मिक आस्था किसी भी तर्क को स्वीकार नहीं करती।

वोट की राजनीति के चलते मेवाती विधायक चौधरी करीम हुसैन मुख्यमंत्री को 'बाबा-ए-कौम' का खिताब देते हैं। वोट की राजनीति के चलते ही विधायक करीम हुसैन मौलवियों के ग़लत प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं और उन्हें खुद आर्थिक मदद का आश्वासन भी देते हैं। मेवात में स्थानीय जन-सुविधाओं की तरफ किसी का ध्यान नहीं है। मेवात में कोई अच्छा अस्पताल, कॉलेज नहीं है, गांवों में सड़क, नहर, बिजली तो दूर की बात पीने के पानी तक की ठीक सुविधा नहीं है—दो-दो, तीन-तीन किलोमीटर दूर से स्त्रियाँ सर पर पीने का पानी ढो कर लाती हैं। यहां जागरूक संगठनों का अभाव है जो इन समस्याओं को उठा सकें और दबाद समूह का रूप ले सकें। आजादी के बाद विकास के नाम पर लोगों का छला गया है। नेताओं ने झूठे वायदे और खोखले नारों के सिवाए जनता को कुछ नहीं दिया।

भारतीय इतिहास की सबसे दर्दनाक घटना या सबसे बड़ी ट्रेजेडी कोई है तो भारत विभाजन। विभाजन ने इतने गहरे घाव दिये हैं कि लोगों का उन्हें भुला पाना मुश्किल है। मेवात से कुछ लोग सन् 1947 ई. में भी पलायन करके पाकिस्तान गये थे तो कुछ पाकिस्तान से भी यहाँ आये थे। मेवात के लोग 1947 के विभाजन को भुला न पाये थे कि फिर एक बार 6 दिसम्बर 1992 के बाद मेवात में हालात इतने बिगड़े कि न केवल सदियों से रहने वाले लोगों के मन एक बार फिर बंट गये बल्कि लोगों का पलायन भी शुरू हो गया। स्थिति इस बार विपरीत थी। सन् 47 में मेव पाकिस्तान भाग कर जा रहे थे तो सन् 1992 में मेवाती हिन्दू मेवात छोड़कर दूसरी जगहों पर जा रहे थे। 'एक दिन पता चला कि आज पौ फटने से पहले उसी बग्गू पंजाबी ने अपने बच्चों को अपनी ससुराल भेज दिया, जिस बग्गू को उसकी माँ छाती से लगाए न जाने कैसे-कैसे लगभग पाँच दशक पहले यहाँ मुल्तान से लाई थी। इसी बग्गू की माँ इस सारे माहौल को देखकर काँप-काँप जाती है और घबराते हुए कहती है कि मैं तो एक पाकिस्तान से चलकर दूसरे पाकिस्तान में आ फँसी।'[5] इस तरह की विघटनकारी घटनाओं को रोका न गया तो पता नहीं 'कितने पाकिस्तान' लोगों के दिलों में बनते रहेंगे और कितने बग्गू इधर से उधर भागते रहेंगे। एक दुखद घटना मेवात में तब घटित होती है जब रूपा बनिया भी मेवात छोड़कर अपने दोनों बेटों के साथ यहाँ से चला जाता है। वही रूपा बनिया जिसने 1947 के विभाजन के वक्त सलेमी के पिता

भूरेखाँ को पाकिस्तान जाने से रोक लिया था। अपने घर में पनाह की थी और कहा था कि–"भूरेखाँ, बावलो मत बन....अन्यायी, हम जैसान् कू तो घर सू बाहर निकलते ही सब पाकिस्तान है...इन आठ-दस कीलान्ने (जमीन) तू क्यों आग में झोंक रो है।"[6] लेकिन महज 45 वर्ष बाद फिर इतिहास दुहराया जाता है। इस बार मेवात छोड़ने वाला सलेमी का पिता भूरेखां नहीं बल्कि उसे शरण देने वाला रूपा होता है। वही रूपा जो इस बात में विश्वास करता था कि–"यार भूरेखाँ मौत सू भी ऐसो कहा डरनो....अरे, मौत तो याँ ना कहीं और भी आनी है, पर ई कहा मतलब के आदमी अपनी मातृभूमि ऐ छोड़ देए....अन्यायी, ई मुलक हमारा बुजरगन् की जादाद तो है ना, या पे तिहारो भी उतनो ही हक है जितनो हमारो है....।"[4] लेकिन आज वही रूपा मेवात छोड़ने को अभिशप्त है। देश भर में इस तरह की घटनाओं को नहीं रोका गया तो पता नहीं रूपा जैसे कितने लोग अपने घरों से निर्वासित होते रहेंगे।

आजादी के बाद मेवात के लोगों ने भी अन्य भारतवासियों की तरह अपने गांव-नगर के विकास का सपना देखा था लेकिन वह भोला भ्रम टूटा। देश के अन्य भागों के अलावा मेवात का विकास अपेक्षाकृत कम ही हुआ है। हरियाणा में विकास कार्य हुए लेकिन दक्षिण हरियाणा (मेवात व अहीरवाल) के साथ हमेशा भेद-भाव ही हुआ। दक्षिण हरियाणा के भी एक हिस्से मेवात का तो नाममात्र का ही विकास हो पाया। आज तक मेवात में रेल, नहर, फैक्ट्री व अस्पताल आदि सुविधाओं का अभाव ही है। यह भी एक तथ्य है कि पूरे मेवात (हरियाणा, राजस्थान व उत्तर प्रदेश) में एकमात्र उच्च शिक्षण संस्थान है–यासीन मेव डिग्री कॉलेज नहू में। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में मदरसों की ही भरमार है जहाँ वैज्ञानिक शिक्षा के बजाय बचपन से ही बालकों को झाड़-फूंक वाले मौलवी मजहबी शिक्षा देते हैं। इस पूरे परिप्रेक्ष्य को देखने के बाद जो तस्वीर मेवात की बनती है वह एक अत्यंत उपेक्षित व पिछड़े क्षेत्र की है।

हिन्दू-मुस्लिम की एकता सिर्फ नारों से ओर चौराहों पर हॉर्डिंग लगाने मात्र से नहीं बनने वाली, उसके लिए कुछ ठोस कदम उठाने होंगे। मसलन शिक्षा का प्रसार, स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार, रेल, फैक्ट्री, नहर आदि का विस्तार। लोगों की आमदनी कम है, सामान्यतः लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन जी रहे हैं। बगैर आर्थिक व्यवस्था ठीक किये, बगैर जीवन स्तर सुधारे, थोथे विकास के नारों से लोगों को कब तक छला जाता रहेगा?

सलेमी कहता है कि कब से सुनते आ रहे हैं कि मेवात में कारखाने लगाए जायेंगे, रेल की पटरी बिछाई जाएगी, बेरोजगारों को रोजगार दिलाया जायेगा। इन खबरों को वह पिछले कई बरसों से सुनता आ रहा है। मंत्री जी आते हैं वायदा भी करते हैं लेकिन पूरे नहीं हो पाते। रोबड़ा कहता है कि, "वोट माँगण लू तो झट लपक के आ जावें हैं ये लीडर....पर बेटी-चोन् सू अस्पताल और फैकटरी बणवान की बात करो तो वाहे जभी टाल जावे हैं...।"[8]

उपन्यासकार बताता है कि पिछले सात-आठ साल से अकाल के हालात ने भी लोगों की कमर तोड़ दी है। खेती चौपट हो गयी, जो रोजगार का मुख्य साधन थी। खेती के अलावा यहाँ पहले से रोजगार का कोई अन्य साधन है नहीं। पिछड़ा, उपेक्षित, अशिक्षित व आर्थिक दृष्टि से कमजोर यह क्षेत्र चारों तरफ से बंद समाज है। बाहर की स्वच्छ हवा यहाँ कम ही आती है, आती हैं तो धार्मिक संगठनों की टोलियाँ जो लोगों के दिमाग को अधिक कट्टर और साम्प्रदायिक बनाने का कार्य ही करती हैं।

मेवात के हालात देश के अन्य हिस्सों से ज्यादा बुरे हैं। कहने को तो यहां 'मेवात डेवलपमेंट बोर्ड' भी बना है लेकिन वह नाममात्र का है। डेवलपमेंट के नाम पर इसका कोई खास योगदान नहीं है। कुछ स्वयं सेवी संगठनों ने जरूर सार्थक प्रयास किया है। इनमें 'मत्स्य-मेवात विकास एव शिक्षा समिति, 'इब्तिदा', 'सार्ड-दि सोसायटी फोर ऑल राउन्ड डेवलेपमेंट' 'डे टू डे डेवलपमेंट सोसायटी' व 'अमन' प्रमुख हैं। यहां की युवा पीढ़ी करे तो क्या करे? दिशाहीन भटकते नौजवानों की संख्या यहाँ बहुत है। यहां आये दिन चोरी व लूटपाट की घटनाएं भी सुनने को मिलती हैं। धार्मिक संगठन इन घटनाओं का इस्तेमाल मेवों को बदनाम करने के लिए करते हैं। समस्या के मूल में जाने की कोशिश कोई भी नहीं करना चाहते। ऊपर-ऊपर से देखकर लोग इसे 'दूसरा पाकिस्तान' नाम दे डालते हैं। मेवात से बाहर मेवातियों को बदनाम किया जाता है कि यहां बहुत से गांवों में तो पुलिस भी जाने से डरती है, जबकि इन बातों में सच्चाई नहीं है।

30 नवम्बर 1992 से पहले मेवात में अफवाहों का बाजार गर्म था कि इस दिन यहां कुछ भी घटित हो सकता है। चौधरी मुर्शीद अहमद मेवात में घूम-घूम कर मेवों को लट्ठ इकट्ठे करने को कहते हैं। इन्हीं अफवाहों के चलते 30 नवम्बर से पहले मेवात के अधिकांश हिंदू परिवार घर पर ताले लगाकर मेवात छोड़ कर जा चुके हैं। इन जाने वालों में सलेमी का खास दोस्त मनीराम व उसकी पत्नी भी हैं जो दिल्ली जा चुके हैं। लेकिन इनमें

याराना इतना है कि बिना मेवात व सलेमी के इनका दिल्ली में दिल ही नहीं लगता। वापस आकर मनीराम सलेमी से कहता है कि, "अगर तू मेरा जी सू सही पूछे है न तो मेरो मन दिल्ली में रह के भी तिहारे कनै धरो रहवे हो...ये सात-आठ दिन मैंने कैसे काटा हैं....यह मैं ही जाणू हूँ....और वही बनवारी की माँ जो ठाड सू मोहे भी लिवा के लेगी ही, ऊ तो दो दिन पीछेई बोलण लगी के चल नघीणा....।"

अशिक्षा से अनेक प्रकार की दिक्कतें पैदा होती हैं, भोली जनता को अखबार का हवाला देकर कुछ भी बता दिया जाय वह उसे सच मान बैठती है। धर्मांध लोग हर घटना की अपनी तरह व्याख्या करते हैं। देखा यह भी गया है कि शिक्षित व्यक्ति भी धार्मिक कट्टरता के शिकार हो रहे हैं। जैसे–'बाबल तेरा देश में' में युनुस इसी तरह का शिक्षित भारतीय नौजवान है जो कानून की पढ़ाई पूरी कर चुका है। शिक्षा भी सही दिशाबद्ध होनी चाहिए, शिक्षा ऐसी न हो जो लोगों के दिमाग को साम्प्रदायिक बनाये। पाठ्यपुस्तकों में प्राचीन भारत से लेकर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तक के काल की विभिन्न घटनाओं और नायकों की एक सन्तुलित तस्वीर दर्शायी जानी चाहिए जो बच्चों के दिमाग को सही दिशा दे सके। पिछले दिनों एन सी ई आर टी के पाठ्यक्रमों में बदलाव के पीछे छुपे उद्देश्यों से सभी परिचित हैं।

मेवाती समाज जब तक बंद था, शांत था लेकिन ज्यों ही वह दिल्ली के सम्पर्क में आया या बाहरी लोग मेवात में आये–इनमें राजनीतिक व धार्मिक चरित्र प्रमुख हैं–तब से यहां समस्या पैदा होना शुरू हो गयी। मोरवाल जी कहते हैं कि पहले मेवाती लोग अयोध्या को जानते तक नहीं थे लेकिन जब जाना तो गलत अर्थ में ही जाना। अयोध्या की जानकारी देने वाले बाहरी लोग हैं जो उसकी नकारात्मक तस्वीर लोगों के दिमाग में भरते हैं। उपन्यासकार ने लिखा है कि, "अब तो आए दिन कोई न कोई खबर सुनने को मिल ही जाती है कि जब-जब इन खबरों की तह तक पहुँचा जाता है तब-तब एक अनजाने भय और आतंक से साँस का गले में अटकना तो दूर रहा, लगता है जैसे रूक ही जाएगी। खासकर तब से जब से इस इलाके ने अयोध्या का नाम जानना शुरू किया है, वरना इससे पहले यहाँ के लोगों ने न तो कभी यह जानने की कोशिश की, और न ही इनके पास जैसे समय था कि अयोध्या आखिर है किस दिशा में?"[10]

मेवात वह क्षेत्र है जहां के अन्तिम मेव नायक हसन खां मेवाती ने बाबर से लोहा लिया

और युद्ध क्षेत्र में लड़ते हुए अपनी शहादत की। पुराने मेवाती लोगों के दिल में आज भी हसन खां मेवाती हीरो हैं, दूसरी तरफ बाबर को उन्होंने कभी भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा, बाबर को हमेशा विदेशी आक्रांता और हसन खां मेवाती की मौत का दुश्मन ही मानते हैं। लेकिन यह हमारी शिक्षा व्यवस्था की चूक ही रही कि हमने राष्ट्र नायक हसन खां मेवाती को भुला दिया। इसी वजह से नयी पीढ़ी बाबर की तरफ आकर्षित हुई। एक दिन तो मेवात में वह भी आया जब बहुसंख्यक मेवाती बाबरी मस्जिद ध्वंश के बाद बाबर के साथ खड़े नजर आये। दूसरी तरफ सलेमी जैसे लोगों की भी मेवात में कमी नहीं है जो बाबरी मस्जिद ध्वंश पर शोक न मनाकर उस समय हसन खां मेवाती को याद करते हैं और बाबर को उसका हत्यारा मानते हैं। इतिहास की अनदेखी करने से अनेक समस्याएं पैदा हो सकती हैं, जो मेव अपने को हसन खां के वंशज व उत्तराधिकारी मानते हैं उन्हें कुछ लोग 'बाबर की औलाद' तक कहने में नहीं चूकते। मेव पक्के राष्ट्रवादी हैं, 1857 की क्रांति में मेवात के 258 मेव शहीद हुए थे। आज भी उनकी याद में मेवात में 'शहीदी मीनार' बनी हुई है। मेवों की यह एक विडम्बना ही कही जायेगी कि वे राष्ट्रवादी होने के बावजूद सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों के विमर्श में नहीं समा पाये, तो दूसरी तरफ मुस्लिम होने के बावजूद मुस्लिम उन्हें पक्का मुस्लिम मानने से परहेज करते रहे।

जातिवादी और धर्मांध राजनीति ने देश का बहुत नुकसान किया है। इस देश व्यापी समस्या ने मेवात को भी अपनी चपेट में ले लिया है। सलेमी का बेटा बाबू खां चुनाव में उम्मीदवार की योग्यता की बजाय जाति और धर्म को महत्व देता है। बाबू खां अपने पिता सलेमी से भी कह देता है कि, "बाप, अबके बोट हाजी असरप लू देणी है।"[11] बाबू खां इसे अपना फैसला नहीं बताता बल्कि इसे बिरादरी का फैसला बताता है। वह कहता है कि, "बाप, ई हमारो फैसला ना है....ई फैसला तो चौस्साब और पूरी बिरादरी को है...सबन्ने मिल के हाजी असरप को नाम आगे करो है...और फिर वासू भलो आदमी और कौन मिलेगा...।"[12] धर्म या मजहब के आधार पर ही बाबू खां उसकी योग्यता का निर्धारण करता है, वह कहता है कि, "बाप, तू तो बेमतलब ही बात कर रो है...कहा कमी है हाजी असरप में...अरे, मक्का सू हिजारत करके ऊ आयो है....पाँचू बखत की निवाज ऊ पढ़े है. ..और दो-चार हजार की जरूरत पड़ जाए तो उन्ने भी फट्ट निकाल के दे देवे है।"[13] इस तरह की धर्मांध या जाति आधारित राजनीति के चलते न केवल मेवात का बल्कि पूरे देश

का माहौल खराब हो रहा है। धन बल, भुजबल के साथ जातिवाद का नारा देकर भोली जनता को छला जाता है। यह प्रक्रिया जब तक चलती रहेगी तब तक सच्चे अर्थों में न तो लोकतंत्र आ सकता और न ही सामासिक संस्कृति का निर्माण हो सकता है।

मेवात के नगीना गांव के पंचायत चुनाव में पूरा गांव हिन्दू-मेव दो खेमों में बंट जाता है। हिंदू अस्मिता के नाम पर माणक सरपंच के कट्टर दुश्मन भी उसके अपने हो जाते हैं। हिंदू, लाला अभयचन्द आर्य, बिसंभर सन्नार्थी के नेतृत्व में गंगाजल हाथ में लेकर कसम खाते हैं कि वोट माणक सरपंच को ही दिया जायेगा। दूसरी तरफ हाजी असरफ अपने अगले चुनाव की तैयारी में जुट गये हैं उन्हें आये दिन नये मुद्दों की तलाश रहती है जिनके चलते वह मेवों को एकजुट कर सकें। कुछ लोग इस तरह के लोगों से भलीभांति परिचित हैं कि वे क्या चाहते हैं। इन नेताओं के निशाने पर युवा वर्ग के साथी हैं, उम्रदराज लोग इनके जाल में नहीं फंसते। सलेमी इसी तरह के पथभ्रष्ट युवा बाबू खां व सुभान खां को समझाता है कि, "सुभान खाँ, बेटा इन कामनू में कुछ भी ना धरो है....अरे, हाजी असरप जैसा आदमी ना तो आज तलक कोई का सगा हुआ हैं, और ना होंगा। बेटा, ये तो ठाडा आदमी हैं इनको कुछ ना बिगड़ेगो...पर तम जैसा बोदा और भला माणस कहीं का न रहेंगा. ..मेरी हाथ जोड़ के गुजारस है कि अब भी बखत है, अपणा-अपणा घर कू उल्टा हो ले ओ।"[14] सलाह देते वक्त यहां पूर्व का आक्रामक सलेमी कुछ नरम पड़ जाता है क्योंकि वह यह भी जानता है कि युवा पीढ़ी को डाँट डपट से नहीं प्यार से ही रास्ते पर लाया जा सकता है।

6 दिसम्बर की घटना ने मेवात के सामाजिक सद्भाव को गंभीर संकट में डाल दिया। जिधर देखो उधर चौकस रहने की बातें हो रही हैं। ग्रामीण लोगों में किसी बात को लेकर इतना भय और तनाव नहीं रहता क्योंकि वे रोजमर्रा की जिंदगी में साथ उठते-बैठते हैं, छोटी-छोटी बातों पर लड़-झगड़ भी पड़ते हैं लेकिन फिर वापस कुछ ही क्षण बाद मिल-जुलकर रहने लगते हैं। इन लोगों को इस बार 6 दिसम्बर का नाम ले-लेकर भयभीत कर दिया गया है। करीम हुसैन, मुर्शीद अहमद, विश्भंर सन्नार्थी, लाला अभयचंद आर्य और ज्ञानचन्द जैन नगीना में घूम-घूम कर चौकस रहने की बातें करने लगे तो लोगों को लगने-लगा कि सचमुच इस बार कुछ होने वाला है। यहां तक कि हथियारों के वितरण की भी बातें होने लगी हैं। विश्वंभर सन्नार्थी ने तो यहां तक कहा कि, "अरे, इन मुसलमानों

का कोई भरोसा ना है कि कब क्या कर दें....इन्ने खून-खराबे से तो डर लगे है ना क्योंकि दया-धरम नाम की कोई चीज तो इनके पास होवे है नहीं...इसलिए अपनी तैयारी में कमी ना रहनी चहिए।''[15] आगे कहते हैं कि, ''और हाँ, अगर एकाध बिंदूक-विंदूक की जरूरत पड़े तो हम पहुँचवा देंगे।...पूरी विश्व हिंदू परिषद भी हमारे साथ है।''[16]

मेवात में हिंदुओं के रक्षक ये लोग चमारवाड़े और कुम्हारवाड़े में जाकर ही हथियार बांटने और चौकस रहने की बात करते हैं। यह तथ्य है कि दंगों के दौरान छोटी समझी जाने वाली जातियाँ न केवल बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती हैं बल्कि लूट-खसोट और मारकाट भी खूब करती हैं लेकिन यह भी तथ्य है कि इन्हें सिर्फ मोहरा बनाया जाता है और ये लोग बार-बार ऐसा करने पर अभिशप्त हैं। हिंदू अस्मिता के रक्षक वैसे तो इनके हाथ का पानी भी पीने में कतराते हैं लेकिन जरूरत पड़ने पर इनके साथ खानपान भी करते हैं और इन्हें सर आँखों पर भी बैठाते हैं।

अब स्थिति में काफी बदलाव आ रहा है, अब मेवात में आये दिन होने वाले स्वार्थपूर्ण झगड़ों ने इन्हें समझा दिया है। विश्वंभर सन्नार्थी, लाला अभय चन्द आर्य और ज्ञान चन्द जैन के घर से निकलते ही लीला चमार लगभग फट पड़ता है, वह कहता है कि, ''देख ली, ये हमारे हिमायती बन के आए हैं...ये लेंगे हमारी गारंटी....आज ई हिन्दू परिषद हमारी गारंटी दे रो है....और इन मुसलमान को कोई भरोसा नहीं है...इनको मगज खराब हो रो है जो ये खून-खच्चर करेंगा...।''[17] अंगीठी के पास बैठे अपने भतीजे इन्दर को सम्बोधित करते हुए लीला आगे कहता है कि, ''इन्दर, आज इन्ने हिन्दून, की ना...अपनी जान की जादा फिकर लग री है....बावला भाई, ये तो काई का चिरा पे भी मूत कर राजी ना हैं...।''[18] मेवात में अब सामाजिक बदलाव साफ दिखाई देता है। छोटी समझी जाने वाली जातियाँ न अब भोली रह गयी हैं और न ही उसे पारम्परिक अर्थ में 'छोटी'। सवर्ण समाज के प्रति भी उनका गुस्सा साफ देखा जा सकता है। लीला का भतीजा इन्दर साफ कहता है कि, ''ये बणिया-बामण अभी भी यही समझ रा हैं कि इनके बदले हम जैसी छोटी-मोटी जात लड़ती फिरें...अरे, ये कैसे भूल रा हैं के अब पुरानी वाली बात ना रही....अब कोई काई की दाब-धौंसे में ना रहवे है...ये तो हमन्ने अभी भी बावला समझे बैठा हैं।''[19]

30 नवम्बर और 6 दिसम्बर मेवात के लिए साधारण तारीखें नहीं हैं, ये इसके जीवन के कत्ल की तारीखें हैं। 30 नवम्बर की अफवाहों के बीच मेवात के हिंदू यहां से किसी बड़ी

घटना के डर से पलायन करते हैं। 6 दिसम्बर को बाबरी मस्जिद ध्वंश के बाद देश के विभिन्न हिस्सों में तनाव व साम्प्रदायिक दंगे भड़कते हैं, मेवात भी इससे अछूता नहीं रहता। हाजी असरप के नेतृत्व में नगीना गांव के कुछ युवा एकत्र होकर हिंदुओं के मंदिर लूटते हैं। सलेमी का आवारा बेटा बाबू खां व उसका साथी सुभान खां इसमें सबसे आगे हैं। सलेमी को यह बात पता चलती है तो वह बीच सड़क में अपने बेटे को जूतों से पीटता है। हाजी असरप और डाक्टर शफ़ीक को लताड़ता है तथा भीड़ को तितर-बितर कर देता है। सलेमी बाबू खां की पिटाई करते वक्त कहता है कि, "ते ऽ ऽ री बहाण की टाँट में दूँ....आयो मुसलमान को चोदो...बेटीचो' कमीण...काफर का बिंद....।"[20] मोहल्ले का गरीब फकीर सुभान खाँ भी दंगों में आगे है, सलेमी उसे भी लताड़े बिना नहीं रहता—"अरे ओ फकीर का...मामा तोपे अपणो पेट तो भरो जाए ना है और चल दियो धूमस मचाण....तू टल जा मेरी आँखन् के आगे सू नहीं तोहे हलाक कर दूँगो।"[21] सलेमी सभी को लताड़ता है, हाजी असरफ और डॉक्टर शफ़ीक के सपनों को चूर-चूर कर देता है। हाजी असरफ पर कोई प्रभाव पड़ता न देख चलते वक्त सलेमी मार्मिक टिप्पणी करता है कि, "हाजी असरप, खुदा की मार सू डर!"[22] सलेमी जैसी चरित्र आज भी समाज में मौजूद हैं जो न केवल हर प्रकार की अनुचित बातों का विरोध करते हैं बल्कि जीवन में साझेपन के महत्व को भी समझते हैं। सलेमी जैसे जीवंत और विवेकशील व्यक्ति जहाँ भी मौजूद रहेंगे, वहां फिरकापरस्त लोगों की खेती नहीं फल-फूल सकती।

मेवात का प्राचीन इतिहास रहा है जो वीरगाथाओं से भरा पड़ा है। आज भी आम मेवाती लोग अपने पूर्वजों के महान कर्मों से गौरवान्वित होते हैं। हसन खां मेवाती आज भी लोगों के दिलों में जिंदा हैं। आम मेवाती को आज भी इस बात पर गर्व है कि 1857 की क्रांति में बावन बहादुर मेवों ने फिरंगियों से लोहा लेते हुए फांसी के तख्त को चूम लिया था। इसी 1857 की क्रांति में एक दूसरी घटना के तहत घासेड़ा गांव में गोरे आततायियों ने तोपों और बंदूकों से डेढ़ सौ मेवों को मौत के घाट उतार दिया था। बाबर के हाथों हसन खां मेवाती के मारे जाने की घटना को याद कर दुखी होने वाले बहुत से मेव उसी बाबर द्वारा अयोध्या में बनायी गयी मस्जिद के ध्वंस होने पर खुश ही होते हैं। मस्जिद ध्वंश की घटना पर सलेमी विचार करता है कि, "हो सकता है इस देश का मुसलमान इस तथ्य से नावाकिफ़ हो कि यह वही बाबर है, जिसके साथ हम-मजहब होने के बावजूद अपनी

मातृभूमि की आन के लिए, इसी मेवात के रण बाँकुरे हसन खां मेवाती ने उसे बाहर से आए 'हमला-आवर' की संज्ञा देते हुए, राणा सांगा के विरुद्ध युद्ध करने से मना कर दिया था। लेकिन इन मेवों को वह कैसे समझाये कि आज इस मुल्क से अंततः उस आततायी के धब्बे मिट ही गए, जिस आततायी के कारण उन्हें अपने इस माँ जाए (हसन खां मेवाती) को हमेशा के लिए खोना पड़ा। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आज यही मेवात जिस प्रतीक के ढहाए जाने पर इतना ग़मग़ीन है, उसके साथ-साथ आँसुओं को थोड़ा-सा रोक कर वह पीछे की ओर मुड़कर भी देख ले, कि जिस बाबर के कारण उसके माँ जाए को इतिहास के पन्नों में कभी जगह नहीं मिली और जिसने इस मेवात तथा देश की अस्मिता और अस्तित्व के लिए अपने आपको होम कर दिया, उसका भी वह भरे हुए मन से जरा-सा सुमरन कर ले?''[23] वीरगाथाओं में जीने वाले मेवाती सिर्फ अकेले सलेमी नहीं हैं बल्कि कितने ही अनगिनत सलेमी यहां मौजूद हैं जो इस तरह के विचार रखते हैं। इस प्रकार के पालनकर्ताओं की संस्कृति किसी भी प्रकार के कट्टरपन को ज्यादा देर तक सहन नहीं कर सकती।

मनीराम भी '*काला पहाड़*' में इसी तरह के सद्भाव के प्रतीक के रूप में सामने आते हैं। मनीराम जैसे लोगों की बातों से लगता है कि आम आदमी अब ज्यादा दिन तक किसी के बहकावे में आने वाला नहीं है। जब मनीराम को यह पता चलता है कि दंगाइयों की भीड़ ने आर्य समाज मंदिर के महंत स्वामी रूपानंद को मार दिया है तो मनीराम दुखी होने की बजाय खुश ही होते हैं। मनीराम कहता है कि, ''...चलो अच्छो हुओ, कटो कलेश...कमसू कम एक मुसीबत सू तो पीछो छुटो या इलाका को...अरे, रोजाना वा मंदर में बैठके इन मेवन्ने ऐसे गलियातो रहवे हो जैसे इन्ने वाकी भैंस खोल्ली होए....।''[24] जब छोटेलाल आकर यह सूचा देता है कि, ''काका मनीराम ऊ स्वामी महाराज मरो ना है, ऊ तो जिंदो है...काई ने ऐसेई खबर उड़ा दी....।''[25] तब मनीराम की प्रतिक्रिया होती है—'मर बेटीचो' कैसी खबर लायो है....।''[26] थोड़ी देर पहले जिस खबर को सुनकर मनीराम का चेहरा खिल उठा था इस खबर को सुनकर वही चेहरा मुरझा जाता है। इस प्रकार सलेमी व मनीराम के उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि आम जनता दंगों के पक्ष में नहीं है वह शांति-सद्भाव चाहती है। जीवन में साझेपन के महत्व को समझती है। जिस समाज में सलेमी और मनीराम जैसे सद्भावना के प्रतीक मौजूद हों भला वह संस्कृति कभी ज्यादा देर तक फिरकापरस्त

लोगों के चंगुल में कैसे रह सकती है।

दंगों के दौरान पुलिस व प्रशासन की भूमिका पर हमेशा अंगुली उठती रही है। मेवात में जब दंगे भड़कते हैं तो पुलिस वहां खड़ी तमाशा देखती है। वह न दंगाइयों को रोकती है न पीड़ित लोगों की तरफ ध्यान देती है। जब तक पुलिस सक्रिय होती है तब तक दंगाई काले पहाड़ की खोह में जाकर छुप चुके होते हैं। जो निर्दोष बचते हैं उनमें से बूढ़े और बच्चों को पुलिस उठाकर ले जाती है, जिनमें असलम जैसे बच्चे और नबी खां जैसे बूढ़े भी शामिल हैं। पुलिस इनकी इतनी पिटाई करती है कि शरीर में जगह-जगह अनेक 'फैक्चर' हो जाते हैं। सलेमी अपने निर्दोष पोते असलम की हालत देखकर टूट जाता है। पुलिस व प्रशासन पर से उसका विश्वास उठ जाता है। वह मनीराम से कहता है कि मैंने पाकिस्तान न जाकर बहुत बड़ी गलती की है, शायद वहां तो यह जलालत न झेलनी पड़ती। पाकिस्तान न जा पाने के लिए गांधी को जिम्मेदार ठहराकर उसे कोसता है। नबीं खां भी कहता है कि—"मनीराम, अब तो सिरकार भी तिहारी है और पुलिस भी तिहारी है....हमारो भी या मुलक में कोई होतो तो आज ये दिन ना देखना पड़ता....।"[27]

दंगों या अन्य प्राकृतिक आपदा के समय पुलिस व प्रशासन की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। किसी भी इलाके में सामाजिक सद्भाव बनाने-बिगाड़ने में वहां के पुलिस-प्रशासन का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस अर्थ में यदि हमें देश में सामाजिक सद्भाव को बनाये रखना है तो पुलिस व प्रशासन के चरित्र में भी आधारभूत बदलाव लाने होंगे। प्रशासन को जवाबदेह बनाना अत्यंत आवश्यक है।

मेवात में सामासिक संस्कृति बनी रहे इसके लिए हमें कुछ आधारभूत ठोस कदम उठाने की जरूरत है। सर्वप्रथम तो क्षेत्र का माहौल बिगाड़ने वाले व्यक्तियों व संगठनों को पहचाना जाये और उनके बरक्स इलाके के धर्म निरपेक्ष व्यक्तियों व संगठनों को खड़ा किया जाये। 1992 की घटना के वक्त स्थानीय धर्मनिरपेक्ष संगठनों ने अहम भूमिका निभाई इन्होंने रामगढ़, तिजारा, कामां जैसे मेव बाहुल्य क्षेत्रों में माहौल को बिगड़ने से बचा लिया। अलवर में शांति व सद्भाव का वातावरण बनाये रखने में इस तरह के संगठनों का काफी योगदान रहा है। इन संगठनों में प्रगतिशील लेखक संघ, साम्प्रदायिक सद्भाव मंच, इपटा, भारत ज्ञान-विज्ञान समिति व अन्य स्थानीय सांस्कृतिक संगठन प्रमुख हैं।

कई सामुहिक आन्दोलन मेवात में ऐसे हुए हैं जिनमें हिंदू-मेव सभी ने मिलकर संघर्ष

में भाग लिया। 'अलवर के सारे-खुर्द गांव में केडिया समूह द्वारा एशिया का सबसे बड़ा शराब कारखाना लगाया जा रहा था। इसके लिए उन्होंने *केराल डगलस इ. लि. व कैलास डगलस इ. लि.* के नाम से सारेखुर्द व लाडपुर गांव की 425 बीघा जमीन किसानों से प्रशासनिक दबाव द्वारा खरीद ली। '*आजादी बचाओ आन्दोलन*' ने किसानों की जमीनें बचाने के लिए संघर्ष किया जिसमें हिन्दू, मेव व दलित किसानों ने एकजुटता दिखायी।'[28] इसी प्रकार पुन्हाना के नहरी क्षेत्र के गांवों में सिंचाई के लिए पानी की समस्या को लेकर हिन्दू व मेव किसान मिलकर आंदोलन चला रहे हैं, हालांकि उनकी मांग अभी पूरी नहीं हो पायी है।

शांति और सह-जीवन के लिए कुछ कार्यक्रम यहां चलाये जायें तो साझेपन की संस्कृति को ओर मजबूत किया जा सकता है। जो हिन्दू-मेव बिना किसी खास बात को लेकर छोटी-मोटी बात पर तकरार कर बैठते हैं उनकी उर्जा को सकारात्मक कार्यों में लगाया जाये तो कुछ महत्वपूर्ण कार्य संभव हो सकते हैं। मसलन क्षेत्र के विकास का एक बड़ा मुद्दा है, इसके लिए कोई सामुहिक प्रयास अभी तक नहीं हो पाया है। जन-सुविधाओं के अभाव और क्षेत्र की उपेक्षा की शिकायत तो लोग करते हैं लेकिन यह असंतोष कभी किसी दबाव-समूह की शक्ल नहीं ले पाया है। लोगों को एकजुट कर प्रशासन पर दबाव बनाया जा सकता है और विकास के लिए बेहतर कदम उठाये जा सकते हैं। ऐसे प्रयासों से महिलाएं एवं बच्चों के स्वास्थ्य और शिक्षा संबंधित आधारभूत समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। जब सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर जन-संगठनों की सक्रियता बढ़ेगी तो वहां साम्प्रदायिक ताकतों को फैलने का अवसर भी कम मिलेगा। इस तरह के कार्यक्रमों से मेवात के लोगों में राजनीतिक दलों की भूमिका के प्रति भी एक आलोचनात्मक रवैया पनप सकेगा। मेवात में सामासिक संस्कृति का भविष्य इन्हीं सब मुद्दों के प्रति स्थानीय धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों व संगठनों की सक्रियता व जागरूकता की बदौलत ही सुरक्षित रह सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजाराम भादू : मेवात में साम्प्रदायिकरण : एक सांस्कृतिक अध्ययन अप्रकाशित शोध पत्र, भगवान दास मोरवाल के सौजन्य से प्राप्त, पृष्ठ-2
2. वही, पृष्ठ-3
3. वही, पृष्ठ-10
4. वही, पृष्ठ-9-10
5. भगवान दास मोरवाल : काला पहाड़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-51 पहला संस्करण 1999, पृष्ठ-314
6. वही, पृष्ठ-314
7. वही, पृष्ठ-315
8. वही, पृष्ठ-28
9. वही, पृष्ठ-336
10. वही, पृष्ठ-370
11. वही, पृष्ठ-374
12. वही, पृष्ठ-375
13. वही, पृष्ठ-375
14. वही, पृष्ठ-401
15. वही, पृष्ठ-404
16. वही, पृष्ठ-404
17. वही, पृष्ठ-406
18. वही, पृष्ठ-406
19. वही, पृष्ठ-407
20. वही, पृष्ठ-422
21. वही, पृष्ठ-422
22. वही, पृष्ठ-422
23. वही, पृष्ठ-417
24. वही, पृष्ठ-432
25. वही, पृष्ठ-432
26. वही, पृष्ठ-432
27. वही, पृष्ठ-442
28. राजराम भादू : मेवात में साम्प्रदायिकरण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ-11

उपसंहार

उपसंहार

'*काला पहाड़*' भगवान दास मोरवाल द्वारा रचित मेवाती जन-जीवन को गहराई से अभिव्यक्त करने वाला पहला उपन्यास है। '*काला पहाड़*' में मेवात क्षेत्र के जन-जीवन उसके इतिहास और तेजी से बदलते हुए वर्तमान टूटते-बिखरते मनुष्य की कथा कही गई है। कथा एक गांव की है, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों एक दूसरे की जिंदगी और संस्कृति में सहज रूप से भाग लेते हैं। आज की राजनीति के छल-छद्म और साम्प्रदायिकता के जहर के फैलाव के कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच घटती हुई आत्मीयता और बढ़ते हुए संदेह की प्रक्रिया का प्रभावशाली चित्रण जैसा इस उपन्यास में है, वैसा हाल के किसी अन्य उपन्यास में नहीं है। यह उपन्यास मेवात क्षेत्र के जन-जीवन को समग्रता में चित्रित करता है लेकिन लेखक की दृष्टि के केन्द्र में वहां की लोक संस्कृति है। उपन्यासकार मेवात के ज्ञात-अज्ञात कवियों की कविताओं और लोकगीतों के माध्यम से जनसंस्कृति की जीवंतता को सामने लाते हैं।

उपन्यास का मुख्य पात्र सलेमी मेवात के जन-जीवन में मौजूद भाईचारा, सहृदयता और एकता का प्रतीक है। मोरवाल जी ने '*काला पहाड़*' में मेवात की 'बात' को उन्हीं की भाषा में बहुत ही सफल अभिव्यक्ति दी है। लोक इस उपन्यास के भीतर तक समाया हुआ है। लोक की बोली-बानी, बात, गीत, नौटंकी, नृत्य, सभी का विशद् वर्णन यहाँ रसमय हो उठा है। हिन्दू और मेवों का रहन-सहन, खान-पान, बोली-बानी, पहनना-ओढ़ना सभी समान हैं। मेवों ने 16वीं शताब्दी में दिल्ली के संतों और सूफियों के संपर्क में आकर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। मेवों ने अपना धर्म तो बदला पर अपनी संस्कृति नहीं बदल पाये। उनके सभी संस्कार हिन्दुओं वाले हैं। संस्कृति धर्म से अधिक व्यापक और नमनीय होती है, यह बात '*काला पहाड़*' के माध्यम से मेवात की संस्कृति के आधार पर कही जा सकती है। संस्कृति ही वह तत्व है जो दोनों (हिन्दू व मेव) को एक सूत्र में बांधता है। धार्मिक क्रियाएं अपनी संकीर्णता या एकदेशता के कारण दूसरों में अनाकर्षण पैदा करती हैं जबकि संस्कृति अपने विशिष्ट गुणों के कारण लोगों को आकर्षित करती है।

मेवात एक ऐसा अनछुआ लोक है जिस पर हिन्दी साहित्य में न के बराबर लिखा गया है। यहाँ के लोग किस्सों में जीते हैं। सलेमी अपनी शादी के अवसर पर बारात के मनोरंजन के लिए गाये गये अनेक किस्सों-'*ससिबदनी और दरिया खां मेव*' की कथा, '*पंडून का कड़ा*', '*हीर-रांझा*', '*ढोला-मारू*', '*नरसी का भात*' आदि को याद करके रोमांचित हो उठता है।

मेवात की संस्कृति पर आज भी साधु-संतों की बानियों का प्रभाव है। संत लालदास, सूफी कवि भीकजी संत चरणदास, कवयित्री सहजोबाई, दयाबाई, संत सादल्ला, जनकवि अलीबख्स, हजरत खक्वे आदि सभी ने यहाँ की संस्कृति को समन्वय से भरा है। सादल्ला यहां का कबीर है जिसने मेवाती-हरियाणवी में 'पंडून का कड़ा' अर्थात् महाभारत की कथा लिखी है। अब्दुल रहीम खानखाना यहाँ के अन्तिम मेव सरदार हसन खाँ मेवाती के नाती थे। यह सर्वविदित है कि रहीम जी अकबर के नव रत्नों में से एक थे।

यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है। आर्थिक रूप से ये लोग मुख्यतः कृषि पर ही निर्भर हैं। अब वर्षा कम होने से परम्परागत कृषि व्यवसाय चौपट होता जा रहा है। पिछले आठ-दस वर्षों से अकाल की स्थिति बनी हुई है। अकाल की स्थिति के चलते मेवात से लोगों का पलायन शुरू हो गया है।

मोरवाल जी ने मेवाती मुहावरों व लोकोक्तियों के माध्यम से अपनी बात रखी है। जहाँ की कथा कही गई है वहाँ की भाषा को भी लिया गया है। रेणु ने 'मैला आँचल' में और अब्दुल बिसमिल्लाह ने 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में क्रमशः लोक की और बुनकरों की भाषा का प्रयोग किया है। '*काला पहाड़*' में प्रयुक्त लोक कहावतों का स्वरूप देखें—'तू देव है तो हम मेव हैं', 'जैसी तेरी बाखली वैसा म्हार गीत', 'यह है मेवात पहले घूसा पीछे बात', 'भाई भाव को दुश्मन दाव को' आदि प्रमुख हैं।

आज इस देश में सबसे बड़ी समस्या साम्प्रदायिकता की है। मजहबी कट्टरपन देश की साझी संस्कृति को झटके मार रहा है। मेवात में मेव और हिंदू दोनों बरसों से साथ रहते आये हैं। मेवों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, बोली-बानी सभी हिन्दुओं के समान हैं। शादी-विवाह, रस्मों-रिवाज, गीत सभी एक हैं। एक जग्गा एक पूजा थान हैं।अब इसमें तेजी से परिवर्तन आ रहा है। मेवात की नयी पीढ़ी हिसाबी-किताबी होने लगी है। साझी संस्कृति के तत्वों को अब धीरे-धीरे छोड़ा जा रहा है। धार्मिक संगठनों की सक्रियता ने इस काम को तीव्रता प्रदान की है। मेवाती लोग साझी संस्कृति के तर्क को समझते हें। सलेमी इस साझी संस्कृति की विरासत का प्रतीक पुरुष है। यह बूढ़ा मेव हसन खाँ मेवाती का असली वंशज लगता है। हसन खां मेवाती मध्यकालीन भारत का वह अन्तिम मेव सरदार है, जिसने बाबर से अपनी जमीन के लिए जंग ठानी थी। उसी की पीढ़ी आज फिरकापरस्त लोगों के हाथों का हथियार बन रही है। इस हथियार बनने में बहुत कुछ हाथ राजनीतिज्ञों का भी है। खराब आर्थिक, शैक्षिक स्थिति का ये लोग फायदा उठाते रहते हैं। यहां लोग मदरसे नहीं मस्जिद बना रहे

हैं, स्कूल नहीं मंदिर बनाने में संलग्न हैं। धार्मिक संगठनों ने धर्म के संकीर्ण अर्थ को पकड़ रखा हैं जैसे-मेव लोग मस्जिद पर लाउड स्पीकर लगाकर तेज आवाज में अजान करते हैं तो हिंदू समुदाय के स्वामी रूपानंद भी उनकी देखा-देखी में अपने मंदिर पर लाउडस्पीकर लटका देते हैं।

6 दिसम्बर 1992 की घटना का मेवात के जन-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह घटना मेवात की बीचों-बीच दो फाट कर देती है। सलेमी उपन्यास का नायक है जो लोगों को समझाता है। लोगों का मेवात से पलायन सलेमी को बुरा लगता है। सलेमी 1947 की घटना को याद करता है। गांधी ने घासेड़ा की मुख्य सड़क पर लेटकर कहा था कि मेव यदि पाकिस्तान जायेगा तो वह मेरी लाश के ऊपर से जायेगा। मेव एक बहादुर और देशभक्त कौम है। चम्पारन में स्वाधीनता आंदोलन के दौरान गांधीजी ने कहा था, 'मेव जैसी बहादुर कौम सभी हो जायें तो मैं देश को चौबीस घंटों में आजाद करा सकता हूं।' गांधी जी ने मेवों का पलायन रोका था। सलेमी बदली स्थिति का प्रत्यक्ष गवाह है। उसने एक वक्त मेवात से मेवों का पलायन देखा था तो आज वही मेवात से हिन्दुओं का पलायन भी देखने को अभिशप्त है। पलायन का प्रमुख कारण लोगों की माली हालत है। धार्मिक संगठन इसे मेवों के अत्याचार के परिणाम के रूप में पेश करते हैं। धार्मिक संगठनों के अपने तुच्छ स्वार्थ हैं, इन्हीं स्वार्थों के चलते ये लोग मेवात को 'दूसरा पाकिस्तान' के रूप में प्रचारित कर बदनाम भी करते हैं।

इन विघटनकारी शक्तियों के कारनामों के कारण साझी संस्कृति का विराट पुरुष सलेमी भी अंत में टूटता है। सलेमी का टूटना आम भारतीय मुसलमान का टूटना है। सलेमी जैसे अनगिनत मुसलमान आज अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। सलेमी ने कुछ स्वप्न पाले थे, देश आजाद हुआ तो सोचा था मेवात की स्थिति बदलेगी। यहाँ भी रेल, सड़क और नहर होंगी लेकिन सब व्यर्थ निकला। भ्रष्ट नेताओं ने अपना पेट पाला। जनता को झूठे वायदों और खोखले नारों के सिवा कुछ नहीं दिया। सलेमी का अंत इन्हीं मनःस्थितियों के बीच होता है। जब वह मरता है तो मनीराम से कहता है कि—मनीराम तो देख वह रेल आ रही है, नहर का पानी आ गया है आदि। रेल, नहर का सपना उसके लिए सपना ही बना रहता है।

चौधरी अतर मोहम्मद जैसे नेता भोली-भाली मेवाती जनता को साम्प्रदायिकता की आग में झोंक देते हैं। साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में जितना हाथ नेताओं का है उससे कम मीडिया और तथाकथित धार्मिक संगठनों का नहीं। दिल्ली आकर वापस मेवात में जो भी गया, उसने धार्मिक कट्टरता को ही बढ़ावा दिया। कुछ लोगों ने जामा मस्जिद के ईमाम से मुलाकात कर वहाँ सुनियोजित ढंग से कार्य किया है। दूसरी तरफ कुछ लोग विश्व हिंदू परिषद के तथाकथित राष्ट्रभक्तों से मिलकर मेवात में हिन्दुत्व की रक्षा भी जिम्मेदारी लेते हैं। स्वामी रूपानंद सरस्वती ने स्वयं को स्वामी दयानंद सरस्वती का उत्तराधिकारी घोषित

कर रखा है। हाजी असरफ और सलेमी का बेटा बाबू खां मजहबी कट्टरपन के शिकार हुए हैं।

उपन्यासकार ने दिखाने का प्रयास किया है कि अब मेवात करवट ले रहा है। वह पहले वाला मेवात नहीं रहा। परम्पराएं बदल रही हैं। मेवों की शादी-व्याह में चाक-भात, गौत्र टालना अब बदल रहा है।

बाबू खां अपने लड़के की शादी हदीस व शरीयत के अनुसार करता है। वह चाक-भात, गौत्र आदि को हिंदुओं के चोचले बताता है। पहली बार नगीना में कोई बहू बुर्का पहनकर आती है। पहली बार कोई लड़का अपने ही मां के गौत्र में ब्याहा जाता है। लोगों में आपसी भाईचारा घट रहा है, संशय को बढ़ावा मिला है, विश्वास क्षीण हुआ है।

साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में अफवाहों का बड़ा हाथ होता है। लोगों की भावनाएं भड़की हुई होती हैं, कुछ चालाक किस्म के लोग उसका फायदा उठाते हैं। लोग भावावेश में धर्म का संकीर्ण अर्थ पकड़कर मारकाट पर उतारू हो जाते हैं। वर्षों का भाईचारा, मेल-जोल मिनटों में स्वाह हो जाता है। पुलिस व प्रशासन का रवैया-मेवों के प्रति कभी उदासीन तो कभी भेदभावपूर्ण होता है।

'*काला पहाड़*' हिंदी में 'अकथित की कथा'[1] है। यह हिंदी कथा साहित्य के 'नागर' स्वाद को बेमजा करता है। यह 'निबिड़ स्थानीयतावादी कथा'[2] है इसमें मेवात का एक लोक पाठ है। यह मेवात की 'बात' है। इसे हिंदी कथा के पुराने पाठ की तरह नहीं पढ़ सकते। यह हिंदी कथा साहित्य के विषय को विस्तार देता है। '*काला पहाड़*' के माध्यम से हिंदी में पहली बार मेवाती भाषा का लट्ठमार खरखरापन अपनी सम्पूर्ण ताकत के साथ उपस्थित होता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, दिसम्बर 1999, पृष्ठ-85
2. वही, पृष्ठ-85

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

(क) आधार ग्रन्थ

मोरवाल भगवान दास : *काला पहाड़*
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-02,
पहला संस्करण-1999

: **बाबल तेरा देस में**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02,
पहला संस्करण-2004

(ख) सहायक ग्रंथ

अग्रवाल, पुरुषोत्तम : **संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध**
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-02
पहला संस्करण-1995

चौहान, शिवदान सिंह : **परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-02
पहला संस्करण-1999

जोशी पूरनचन्द्र : **परिवर्तन और विकास के सांस्कृति आयाम**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02
पहला संस्करण-1987

: **स्वप्न और यथार्थ**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02
पहला संस्करण - 2000

जोशी अनिल (सं.) : **'पंडून कौ कड़ा'**
कैलास प्रकाशन, महावीर मार्ग,
अलवर (राजस्थान) पहला संस्करण 1992

: **मेवाती काव्य (दूहे एवम् लोक गीत)**
मेवात साहित्य प्रचार संस्थान, अलवर
(राजस्थान) पहला संस्करण, 1996

दुबे श्यामाचरण : **समय और संस्कृति**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-02
दूसरा संस्करण-2000

: **परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति**
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-02
पहला संस्करण-1991

दिनकर, रामधारी सिंह : **संस्कृति के चार अध्याय**
उदयांचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ
पटना-16, दूसरा संस्करण 1962

द्विवेदी हजारी प्रसाद : **विचार और वितर्क**
साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद
पहला संस्करण - 1954

बालोत आशिक : **मेवाती लोक कवि : संवेदना और सृजन**
प्रकाशन रचना, 57-नटाणी भवन, चांदपोल बाजार,
जयपुर (राजस्थान)

भादू राजाराम : **मेवात में साम्प्रदायिकता : एक सांस्कृतिक अध्ययन-मई 2005**
अप्रकाशित शोध पत्र, श्री भगवानदास मोरवाल
के सौजन्य से प्राप्त।

'मेव' सिद्दीक अहमद : **मेवात एक खोज,**
प्रकाशन दोहा तालीम समिति गुड़गांव (हरियाणा)
पहला संस्करण-1997

: **मेवाती संस्कृति : अध्ययन एवं अवलोकन**
प्रकाशन दोहा तालीम, गुड़गांव (हरियाणा)
संस्करण-1997

हुसैन आबिद : **भारत की राष्ट्रीय संस्कृति**
नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली-16,
संस्करण-1987

शर्मा डॉ. महावीर प्रसाद : **मेवाती का उद्भव और विकास**
लोकभाषा प्रकाशन, छोटा बाजार, कोटपूतली
(राजस्थान) पहला संस्करण-1976

(ग) पत्र-पत्रिकाएँ

1. चिराग-ए-मेवात, डॉ. मुंशी खाँ (सं.), बखतल की चौकी अलवर से प्रकाशित (सैनी प्रिंटिंग प्रेस) नवम्बर - 1999
2. इन्द्रप्रस्थ भारती, नानक चंद (सं.), दिल्ली जनवरी-मार्च 2004
3. माध्यम, सत्यप्रकाश मिश्र (सं.), हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, जनवरी-मार्च 2001
4. कथाक्रम, शैलेन्द्र सागर (सं.) (कथा साहित्य, कला एवं संस्कृति की त्रैमासिकी) मुद्रकः प्रकाश पैकेजर्स, 257, गोलागंज, लखनऊ, जनवरी-मार्च, 2005
5. आलोचना, नामवर सिंह, (सं.) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02, जुलाई-सितम्बर 2001
6. हंस, राजेन्द्र यादव (सं.), अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, दिसम्बर-1999
7. इंडिया टुडे, 27 जून 2001 'ऐसा इल्म कहाँ मिलेगा।'
8. जनसत्ता, 13 मई, 2003, लेख-संस्कृति, नीति की प्राथमिकताएँ